॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१११

॥ श्रीः ॥

हेमचन्द्राचार्य जीवनचरित्र

मूल जर्मन लेखक

डा० जी० बूहलर

अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवादक

कस्तूरमल बांठिया

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६७

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
III

HEMACANDRĀCĀRYA JĪVANACARITRA

Translated in Hindi

by

KASTŪRMAL BĀNTHIA

from

The Life of Hemacandrācārya

of

PROF DR G BUHLER

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1967

कलिकालसर्वज्ञ गुरु हेमचन्द्राचार्य और उनका प्रिय शिष्य परममाहेश्वर, परमार्हत राजा कुमारपाल

वि० सं० १२९४ की ताडपत्री प्रति पर चित्रित चित्र पर से प्रसिद्ध चित्रकार-धुरन्धर द्वारा सुधारा हुआ सुन्दर रंगों से सुशोभित यह चित्र भावनगर की जैन आत्मानन्द सभा द्वारा सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' के गुजराती भाषान्तर के साथ वि० सं० १९८३ में पहली ही बार प्रकाशित किया गया था। खंभात के जैन भंडार मे सं० १२०० की लिखी दशवैकालिक लघुवृत्ति के अंतिम पत्र मे आ० हेमचन्द्र, उनके शिष्य महेन्द्रसूरि और महाराजा कुमारपाल का जो चित्र पाया गया है, वह समकालीन ऐतिहासिक होने से अधिक महत्व का है, परन्तु प्रयत्न करने पर भी उसकी प्रति नहीं प्राप्त हो सकी, अतः हम उक्त चित्र ही यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं और इसके लिए जैन आत्मानन्द सभा भावनगर के आभारी हैं।

—अनुवादक

विषय-सूची

भारतीय विद्याविद् डा० ज्हान ज्यार्ज बूह्लर

श्री कस्तूरमल बांठिया

यह कम लोग ही जानते हैं कि जैन धर्म साहित्य और इतिहास की ओर डा० हर्मन याकोबी को आकृष्ट करनेवाले स्वर्गीय डा० ज्हान ज्यार्ज बूह्लर थे। संस्कृत साहित्य की ओर यूरपीयों का सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट करने वाले थे भारत के प्रथम गवर्नर जनरल श्री वारन हेस्टिंग्ज के सहयोगी और तत्कालीन सुप्रीम कोर्ट के एक न्यायाधीश सर विलियम जोन्स जिन्होंने स्वयं संस्कृत पढ़ी, कालिदास की शकुन्तला का अनुवाद किया और इसी लक्ष्य से एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की स्थापना की और उसके द्वारा संस्कृत साहित्य की खोज एवं प्रकाशन का देश में श्रीगणेश हुआ। श्री जोन्स के निधन के पश्चात् यह भार श्री कोलब्रुक को सम्हालना पड़ा जो कंपनी की नौकरी में १७८२ में भारत में पहुँचे थे। उस समय गवर्नर जनरल हेस्टिंग्ज हिन्दू धर्म संहिता (कोड आफ हिन्दू ला) तैयार करवाने में लगे थे, परन्तु जो उन्होंने पंडितों की सहायता से संहिता तैयार करवाई, वह सर विलियम जोन्स को पसंद नहीं आई और उन्होंने यह काम स्वयं करने का भार उठाया परन्तु इसी बीच उनकी मृत्यु हो गई और तब इसे श्री कोलब्रुक ने पूरा किया। इसी लक्ष्य से पं० जगन्नाथ तर्कपंचानन ने संस्कृत में 'विवादभंगार्णव' नामक ग्रंथ की रचना की थी जिसका अंग्रेजी में अनुवाद श्री कोलब्रुक ने तीन खंडों में 'डाइजेस्ट आव हिन्दू-ला' नाम से किया और इससे उनके संस्कृत ज्ञान की छाप

डा० ज्हान ज्यार्ज बूह्लर

बैठ गई। प्रधान पंडितों से चर्चा-विचारणा करने के पश्चात् इस संहिता के अनेक विषयों पर जो विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियाँ इन्होंने दी हैं, वे आज भी उद्धृत की जाती हैं। इन्हीं कोलब्रुक ने भारत में रहते हुए भारतीय सभ्यता और साहित्य संबंधी कई निबन्ध लिखकर प्रकाशित किए जिनमें से एक था 'संस्कृत और प्राकृत भाषा' और दूसरा था 'जैनधर्म का अनुशीलन'। इनके ऐसे अनेक विद्वत्तापूर्ण कार्यों से जो वे इंगलैंड लौट जाने पर भी करते ही रहे थे, प्रभावित होकर संस्कृत के प्रकांड विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने इन्हें 'यूरप में यथार्थ संस्कृत विद्यावत्ता का जनक और संस्थापक' कहा था। जैनधर्म पर लिखनेवाले यही सर्वप्रथम यूरपीय विद्वान् है। इनकी चलाई इस परम्परा में इनके निधन के वर्ष ही जर्मनी के हैनोवर राज्य के नीअनबर्ग (Nienburg) नगर के निकटस्थ बोर्स्ट (Borstel) में १९ जुलाई १८३७ को श्री उहान ज्यार्ज बूह्लर का एक पादरी के घर में जन्म हुआ था, जिसने १८७० में संस्कृत प्राकृत साहित्य के भंडारों की खोज की बम्बई में नींव डाली और भंडारों में सगृहीत अमूल्य साहित्य रत्नों की परिचयात्मक प्रतिवेदनाएँ प्रतिवर्ष प्रकाशित करना शुरू किया। राजपूताना और अन्य स्थानों के जैन भंडारों की खोज में डा० हर्मन याकोबी भी सहायक रूप से इनके साथ थे और इसने ही उन्हें जैनदर्शन-साहित्य और इतिहास के अध्ययन और अनुसंधान की ओर ऐसा झुका दिया कि वे अधिकारी विशेषज्ञ ही हो गए। फिर तो न केवल डा० याकोबी के शिष्यगण ही अपितु अन्य अनेक विद्वान् भी इस ओर आकृष्ट हो गए और आज भी इस दिशा में अभूतपूर्व कार्य कर रहे हैं। हिन्दी जगत् को उनके जीवन व कृतित्व का संक्षेप में परिचय कराना और करना उपयोगी होगा।

मौलिक विचारणा के धनी डा० बूह्लर

डा० बूह्लर का प्रारम्भिक शिक्षण हैनोवर के पब्लिक स्कूल में हुआ और वहाँ से उत्तीर्ण होकर उन्होंने सन् १८५५ में गार्टिंगन (Gottingen) के विश्वविद्यालय में प्रवेश किया जहाँ उनके अध्यापकों में से एक थे भाषा और जन-श्रुतिविद् (लिंग्विस्ट एंड फोकलोरिस्ट) प्रो० थीओडोर ब्यैनफे जिन्होंने

बूह्लर में भारतीय विद्या के प्रति प्रेम जाग्रत किया। बूह्लर उनके महानतम शिष्य थे। युवक बूह्लर ने संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक पक्ष की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। ऐसा देखकर प्रो० ब्यैनफे ने उन्हें यह हितशिक्षा दी कि संस्कृत पांडित्य की कसौटी वेदों का अध्ययन है और इसलिए उन्हें भारतीय साहित्य के इतिहास में जो कुछ भी यथार्थतः महत्व का है उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। बूह्लर ने गुरु की इस हितशिक्षा को शिरोधार्य किया और उन्होंने एक शब्द भी प्रसिद्धिप्राप्ति के लिए नहीं लिखा। जो भी लिखा उसे अपने मौलिक विचारों और अवधारणाओं से सदा प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न किया। उन्हें सन् १८५८ में डाक्टरेट प्राप्त हो गई और वे लंदन, आक्सफर्ड और पैरिस, वहाँ के विद्याकेन्द्रों के पुस्तकालयों के पौर्वात्यविद्या विभागों में काम कर पाने की आकांक्षा से इसलिये चले गए कि उन्हें वहाँ वैदिक हस्तलिपियों की प्रतिलिपि और मिलान कर यथाक्रम लगाने के अवसर प्राप्त हों। लंदन में उनका परिचय प्रो० मैक्समूलर से हुआ जो कालांतर में गाढ़ मैत्री का हो गया और आजीवन बना रहा। कुछ समय तक डा० बूह्लर ने विंडसर (इंगलैंड) के राज्य-पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष के सहायक का काम किया और फिर इसी हैसियत में गाटिंगन के पुस्तकालय में भी काम किया।

अब तक वे पुस्तकों द्वारा ही संस्कृत का अध्ययन करते रहे थे जिससे उन्हें संतोष नहीं मिल रहा था। वे भारतवर्ष जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे जहाँ संस्कृत के पंडितों के चरणों में बैठकर संस्कृत का नियमतः अध्ययन कर सकें और ऐसा अवसर मिलता हो तो वह व्यापारी के लिपिक या गणक के रूप में भी जाने को तैयार थे। उन्होंने इसमें प्रो० मैक्समूलर की सहायता चाही और उन्होंने बम्बई शिक्षा सेवा में अपने परिचित श्री हावर्ड, जो उस समय वहाँ के जन शिक्षा निर्देशक थे, द्वारा उनके लिए काम का प्रबंध करा दिया। परन्तु जब तक बूह्लर बम्बई पहुँचे, श्री हावर्ड कहीं दौरे पर थे और विभाग ने 'जगह नहीं' कहकर उन्हें टाल दिया। ऐसी दशा में बूह्लर मैक्स-मूलर के दूसरे मित्र ऐलफिस्टन कालेज के प्राचार्य (प्रिंसिपल) श्री एलैक्जेंडर ग्राण्ट के पास पहुँचे और उन्होंने उन्हें अपने महाविद्यालय में पौर्वात्य भाषाओं के प्रोफेसर के पद पर तुरत ही नियुक्त करा दिया। इस प्रकार डा० बूह्लर

सन् १८६५ में पेलफिंस्टन महाविद्यालय में एक शिक्षक का काम करने लगे। १७ वर्ष तक बम्बई राज्य के शिक्षा-विभाग में कभी प्रोफेसर, कभी शिक्षा निरीक्षक और कभी संस्कृत हस्तलिपियों की खोज के अधिकारी के रूप से वह काम करते रहे। प्रोफेसर और शिक्षा-निरीक्षक रूप मे उनकी सेवाएँ ऐल-फिंस्टन महाविद्यालय के प्राचार्य और जनशिक्षा विभाग द्वारा बहुसमादृत और प्रशंसित रही थीं। भारतीय जलवायु, कठिन परिश्रम और अविकसित मार्गों पर निरंतर दौरा करते रहने ने उन्हें अवसर प्राप्त कर सन् १८८० में देश लौटने को विवश कर दिया। परन्तु वहाँ लौटकर भी वह अधिक दिनों तक निवृत्ति में नहीं रह पाए। वियाना विश्वविद्यालय में संस्कृत और भारतीयविद्या (इंडोलाजी) के प्रोफेसर के रूप में उन्हें कार्यभार सम्हाल लेना पड़ा। वियाना में पौर्वात्य विद्याओं के अध्ययन का केन्द्र खोलने की उन्हें सदा ही तीव्र आकांक्षा रही थी, इसलिए पद सम्हालने ही १८८६ मे उस विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान (ओरियंटल इंस्टिट्यूट) की स्थापना उन्होंने कर दी और 'वियाना ओरियंटल जर्नल' नाम का सामयिक भी प्रकाशित करने लगे।

डा० बूह्लर का पांडित्य

उपरोक्त सामयिक में डा० बूह्लर के भारतीय इतिहास, पुरालिपि (पेलियो-ग्राफी) और पुरालेख (एपीग्राफी) पर मौलिक लेख प्रकाशित होते थे। जब भी अवसर आता वे संस्कृत के गहन अध्ययन का दावा प्रस्तुत करते रहते थे। उन्होंने अपने लिए संस्कृत के यूरोपीय पंडितों के नेता का पद प्राप्त कर लिया था। वियाना विश्वविद्यालय के शांत और सहानुभूतिसम्पन्न वातावरण मे उन्होंने भारत-आर्य संशोधन विश्वकोश (एनसाइक्लोपीडिया आफ इंडो-आर्यन रिसर्च) नामक महान् ग्रंथ की योजना बनाई और उसे प्रायः संपूर्ण भी कर दिया। यह उस काल की पौर्वात्य विद्या के क्षेत्र मे एक महान् प्रयत्न था। उनके गहन ज्ञान और महान् पांडित्य ने उनको अनेक सम्मान प्रदान करा दिए। वह ब्रिटेन और यूरप की अनेक प्रमुख प्राच्यविद्या प्रतिष्ठानों एवं अकादमियों के तत्स्थानीय सदस्य (करेसपांडिंग मैम्बर) चुन लिए गए। अंजूमन-ई-पंजाब, एशियाटिक-सोसाइटी आव बंगाल, और अहमदाबाद की गुजरात वर्नाक्यूलर

सोसाइटी ने भी इन्हें अपना मानद सदस्य बनाया और उन्हें अँग्रेज सरकार ने 'सर' की पदवी प्रदान कर सम्मानित किया ।

वह खूब ही पढ़ने वाले और खूब ही लिखने वाले थे । उनकी साहित्यिक कृतियों का सर्वेक्षण करना आसान काम नहीं है । फिर भी उनकी महत्त्व की कृतियों की संक्षेप में कुछ चर्चा कर दें । डाक्टरेट प्राप्ति के पश्चात् ही वह लिखने लगे थे । प्रो० ब्यैनफे-सम्पादित 'औरियंट एंड आक्सीडंट' नामक सामयिक में दिए अनेक लेखों में से सन् १८६२ में प्रकाशित 'पर्जन्य विषयक' लेख में उन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान (कम्पैरेटिव फिलोलोजी) और वैदिक पुराण कथाओं (माइथोलोजी) की चर्चा की है । जब वह लंदन के किसी पुस्तकालय में काम करते थे, मैक्समूलर के ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' की शब्दानुक्रमणिका उन्होंने तैयार की थी । यह १८५९ की बात है । वह संस्कृत के सनातनी पंडितों का सदा ही मान करते थे और उनकी भारी प्रशंसा करते रहते थे । जब वह भारतवर्ष में थे, उन्होंने पुरानी पद्धति के शास्त्रियों को, उच्च श्रेणियों के विद्यार्थियों की सहायता के लिए ही नहीं बल्कि प्रोफेसरों के सहायक रूप में भी नियुक्त किए जाने का जोरदार शब्दों में समर्थन किया था ।

संस्कृत पठन की पौर्वात्य सनातनी पद्धति और पाश्चात्य पद्धति का एकीकरण हो

वह अपने ही ढंग से भारतीय सनातनी शिक्षणपद्धति के साथ यूरोपीय शास्त्रीय शिक्षा के लाभों का एकीकरण चाहते थे । यदि उनके सुझावानुसार काम हो जाता तो उनकी औरियंटलिस्ट् शाखा में अनेक भारतीय विद्याविद् आज पाए जाते । आप्टे, भंडारकर, शंकर पाण्डे, और तेलंग उस शाखा के ही कुछ चमकते सितारे थे । प्राकृत एवं संस्कृत भाषाविज्ञान के अध्ययन ने उन्हें हुल्टश (Hultzsch), फ्यूरर (Furrer), वैडल (Waddel) आदि को पुरातात्विक अध्ययनों में रुचिवान् बनाया था । डा० विंटर्निट्ज के अनुसार जो कि उनके एक ख्यातिप्राप्त शिष्य थे, तो बूहर का सारा भारतीय अध्ययन प्राचीन भारत के सुसंबद्ध इतिहास-प्रकाश के लिए किया गया

नींवखुदाई का काम ही था। उनका वह काम आदर-आकांक्षा मात्र ही रह गया है क्योंकि अकस्मात् मृत्यु के कारण वह हमसे छीन लिए गए हैं। पुरोगामी रूप मे वह सजग थे और मानते थे कि पुरोगामियों को, चाहे वे कभी कभी विभिन्नमत हों फिर भी, सदा संयोग करते ही रहना चाहिए।

उन्हें सदा ही हस्तप्रतियों की खोज और उत्साहपूर्ण संग्रह के लिए स्मरण किया जायगा। इस विषय में वह न केवल बर्लिन, कैम्ब्रिज और पैरिस की पौर्वात्य शाखा के अन्य पुरोगामियों के साथी हैं, बल्कि उन सबों से बढ़-चढ़कर भी हैं। क्योंकि उन्होंने बम्बई सरकार की दक्षिण भारत की संस्कृत हस्तपुस्तकों के संग्रहालयों की छानबीन के लिए, प्रतिनियुक्ति स्वीकार कर ली थी। उनके प्रयत्न सफल हुए और दुर्लभ हस्तप्रतियों का कम से कम २३०० का अच्छा संग्रह सरकारी संग्रहालय में हो गया था।

उन्होंने डा० कीलहार्न के सहयोग में बम्बई संस्कृत ग्रन्थमाला के प्रकाशन का काम शुरू तब किया जब वे पूना में थे। इस माला के प्रकाशित अनेक ग्रंथ कभी प्रकाश में ही नहीं आते यदि डा० बूह्लर उत्साह और भक्ति के साथ उसमें नहीं जुट गए होते। 'पंचतन्त्र' के चार तन्त्र, दंडी के 'दशकुमार-चरित' का पहला भाग इस ग्रंथमाला में उन्हीं द्वारा प्रकाशित हुआ था। उन्होंने विल्हण के 'विक्रमांक देवचरित' को खोज निकाला और १८७५ में उसका सम्पादन भी कर दिया। सर रेमण्ड व्यैस्ट के सहयोग में सन् १८६७ में उन्होंने प्रख्यात 'डाइजेस्ट आव हिन्दू ला' प्रकाशित किया। जैसे जैसे अंग्रेजी न्यायालयों का कार्य बढ़ता जा रहा था, वारसा, बंटवारा और दत्तक के लिए हिन्दू ला डाइजेस्ट की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही थी। बूह्लर ने सर रेमण्ड व्यैस्ट के 'डाइजेस्ट' के लिए अपनी प्रख्यात प्रस्तावना (इंट्रौडक्शन) लिखी जिसमें हिन्दू ला का यथार्थ एवं परिपूर्ण सर्वेक्षण है। सन् १८७१ में उन्होंने आपस्तम्ब के हिन्दू धर्मशास्त्र सम्बन्धी सूत्रों का प्रकाशन किया। मैक्समूलर की भी उन्होंने 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' ग्रन्थमाला के लिए ग्रंथ २, १४ और २५ लिखकर सहायता की। आपस्तम्ब, बौधायन और गौतमवाशिष्ठ के गृह्यसूत्रों के अँग्रेजी अनुवादों के दो भाग (याने सं० २ और १४) अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। इनके बाद ग्रंथ २५ के रूप में उनका

किया हुआ मनुस्मृति का अनुवाद उसी ग्रन्थमाला में सन् १८८६ में प्रकाशित हुआ था।

उस युग के अनेक पाश्चात्य पण्डितों से वह हिन्दूधर्म की आधार पुस्तकों (सोर्स बुक्स) के निर्माण काल के विषय में विभिन्न मत रखते थे। वह उन्हें उनकी अपेक्षा अधिक प्राचीनता देते थे। संस्कृत साहित्य के अध्ययन से उन्होंने अपना ध्यान शिलालेखों के अध्ययन की ओर लगा दिया और उनके ही फलस्वरूप वे भारतीय इतिहास के हिन्दू काल का कालक्रम प्रमाण निश्चित कर सके। उन्होंने इस विषय पर ३५ लेख 'इडियन एंटीक्वैरी' में प्रकाशित किए और ४२ 'एपीग्राफिका इंडिका' में। भारतीय ऐतिहासिक अभिलेखों की व्याख्या करने का काम अति गहन अध्ययन के पश्चात् ही उन्होंने हाथ में लिया था।

लिपिशास्त्र, न कि ऐतिहासिक शिलालेख, हो डा० बूह्लर की अत्यन्त रुचि का विषय था। 'भारतीय ब्राह्मी लिपि' और 'भारतीय लिपिशास्त्र' ये दोनों उनके महान् ग्रंथ हैं। भारतीय पुरातत्व, शिलालेख (एपीग्राफी), साहित्य और भाषाविज्ञान सभी में उनकी भारी देन है। उनका विश्लेषण और उनकी व्याख्या, उनके अध्यवसायी अध्ययन और पांडित्य की साक्षी देते हैं।

वह भारतीय साहित्य-रत्नों की वह सूची बनाने में जिसका प्रारम्भ श्री विहटले स्टोक्स ने किया था, अत्यन्त ही सफल हुए थे। जब वह महत्व की हस्तप्रतियों की खोज में थे, उनकी आँखें प्राचीन शिलालेखों की ओर भी खुली रहती थी। ईसा पूर्व तीसरी शती के हमारे महाराजा अशोक के शिलालेखों का आकलन उन के एवं श्री एम. सेनार्ट दोनों के संयुक्त सर्वप्रथम परिश्रम का ही परिणाम है।

भारतीय धर्मों के इतिहास को बूह्लर की देन

दूसरी महत्वपूर्ण सेवा उन्होंने भारतीय धर्मों के इतिहास क्षेत्र में की। जैनधर्म के सम्बन्ध की कुछ हस्तलिखित प्रतियों की उनकी खोज ने विद्वानों के लिए जैनधर्म के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उन्होंने ५०० से कुछ अधिक जैन प्राकृत हस्तप्रतियाँ खोज ही नहीं लीं, बल्कि उन्हें खरीदकर अपने

अधिकार में भी कर लिया। ये प्रतियाँ तुरन्त बर्लिन विश्वविद्यालय, जर्मनी को भेज दी गईं और इस प्रकार बर्लिन जर्मन जैन भाषाविज्ञान का केन्द्र बन गया।

प्रो० याकोबी, बूह्लर की राजपूताने एवं अन्य जैन भण्डारों की यात्रा में उनके साथ थे। और जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इन्होंने याकोबी को जैनधर्म विषयक अपने कीर्तिस्तम्भस्वरूप अध्ययन में लगा दिया। स्वयं बूह्लर की भी जैनधर्म-इतिहास में अमाप देन है। उसने पंडितों को जैनधर्म का अध्ययन करते रहने की प्रेरणा दी और सन् १८९७ में अपने निजी अध्ययन का परिणाम 'इंडियन सैक्ट आव जैनाज' शीर्षक से प्रकाशित किया था। गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप वह बौद्ध धर्म से जैनधर्म की प्राचीनता, पूर्वापरता के निर्णय पर पहुँचे। यह कहना जरा भी अतिशयोक्ति नहीं कि भारत के जैनी इस विषय में उसके अत्यन्त ऋणी हैं।

ऊपर 'एनसाइक्लोपीडिया आव इंडो-आर्यन रिसर्च' के विषय में संकेत किया जा चुका है। इस महान विश्वकोश के निर्माण में डा० बूह्लर ने संसार के भिन्न-भिन्न भागों के कोई ३० विद्वानों से सहायता प्राप्त की थी। उसने स्वयं इस विश्वकोश के ९ भागों का सम्पादन किया जिनमें से भाग १ खंड २ 'भारतीय लिपिशास्त्र' (इंडियन पैलियोग्राफी) तो उसका ही लिखा हुआ था। उन्होंने इन लेखों के जो मूलतः जर्मन भाषा में लिखे गये थे, अंग्रेजी में अनूदित किए जाने की वकालत की। अन्य गहन अध्ययन मे व्यस्त विद्वान् का ऐसे भारी विश्वकोश के सम्पादन, लेखन-लिखावन आदि अनेक छोटे से छोटे काम में कितना मूल्यवान् समय खर्च हुआ होगा, इसका अनुमान तक भी नहीं लगाया जा सकता है परन्तु डा० बूह्लर ने इसकी तैयारी में किसी भी प्रकार के परिश्रम में जरा भी कमी नहीं की। उनका यह काम प्रत्येक भारतीय विद्याविद्, जो इस प्रकार अकेला ही ऐसे मार्ग पर चल रहा है, के लिए सदा आलोकस्तम्भ रहेगा।

नौकाविहार करते अकस्मात् मृत्यु

सन् १८९८ का ईस्टर अवकाश उन्होंने सपरिवार ज्यूरिक (Zurich) में बिताने का प्रोग्राम बनाया और अपनी पत्नी एवं शिशु सहित अप्रैल ५

को वियाना से वे वहाँ के लिए रवाना हुए। मौसम अत्यन्त सुहावना और लुभावना था, अतः वे जब स्विट्जरलैंड के कांस्टैंस ताल (लेक कांस्टैंस) के पास से गुजर रहे थे कि उन्हें उस ताल में नौकाविहार करने की तीव्र लालसा हो उठी और वे उसके तटस्थ पर्यटक उपनगर लिंडला (Lindlaw) पर उतर ही पड़े। ता० ८ अप्रैल को जब वह नौकाविहार कर रहे थे कि अकस्मात् उनके हाथ से एक डांड छिटककर ताल में गिर पड़ा और उस छिटके व ताल पर तैरते डांड को उठाने को ज्योंही वह झुके कि नौका का संतुलन बिगड़ गया और वह ताल में गिर पड़े और डूब गए। इस तरह एक महान् भारतीय विद्याविद् का ६१ वर्ष की आयु में अन्त हो ही गया जब कि वह स्वास्थ्य के कारण भारतवर्ष से ४५ वर्ष की अवस्था में ही निवृत्त होकर अपने देश को लौट आया था। उनकी इस आकस्मिक मृत्यु के समाचार सुनकर संसार के और विशेषकर इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी और भारत के संस्कृत विद्वान् स्तंभित रह गए। क्योंकि इन सबको डा० बूह्लर से भारी आशाएँ थीं। पर विधि का विधान कैसे टलता? अपने इस अल्पकालिक जीवन में भारतीयविद्या की की गई उनकी सेवाएँ उन्हें सदा ही अमर रखेंगी।

उनके द्वारा जैनधर्म और उसके शास्त्र-भंडारों की की गई सेवा का, उनका लिखा जर्मन भाषा का 'दी लाइफ आव हेमचन्द्र' भी एक प्रत्यक्ष प्रमाण है जो उन्होंने भारत से लौटने के बाद ही जर्मनी में प्रकाशित कराया था। इससे उनकी गहन अध्ययनशीलता, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-बुद्धि और कठोर परिश्रम प्रत्येक शब्द से और टिप्पणियों से प्रगट होता है। आज भी किसी जैन अथवा गुजरात के अजैन विद्वान् ने इस महान् आचार्य का अद्यतन खोजों के आधार पर सर्वांगीण जीवन लिखकर प्रकाशित नहीं कराया है हालांकि गुजरात के निर्माण में उनके असीम उपकार का स्मरण तो सदा ही किया जाता है। यह जीवन-चरित्र डा० बूह्लर की हेमचन्द्र के प्रति सच्ची श्रद्धा का ही साक्षात् प्रमाण है। देश के सांस्कृतिक और साहित्यिक रत्नों को प्रकाश में लाने की, जो हमारी उपेक्षा से नष्ट होते ही जा रहे हैं, प्रेरणा हमें मिले, यही कामना है।

अनुवादक की ओर से

'भारतवर्ष के प्राचीन विद्वानों में जैन श्वेताम्बराचार्य श्री हर्षचन्द्र सूरि का अत्यन्त उच्च स्थान है। संस्कृत साहित्य और विक्रमादित्य के इतिहास में जो स्थान कालिदास का, और श्रीहर्ष के दरबार में बाणभट्ट का है, प्रायः वही स्थान ईसवी सन की बारहवीं सदी के चौलुक्यवंशी सुप्रसिद्ध गुर्जर-नरेन्द्र-शिरोमणि सिद्धराज जयसिंह के इतिहास में हेमचन्द्र का है।'

—पं० शिवदत्त शर्मा : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ६ अंक ४, 'श्री हेमचन्द्र'।

"The towering personality of Grammarian Acharya Hemachandra (Samvat year 1168, A. D. 1112) not only dominated our literature during his own times but will dominate it for all times. The services rendered by his 'देशीनाममाला' are unique."

—दी० ब० कृष्णलाल मो० झवेरी, बम्बई विश्वविद्यालय के तत्वावधान में 'ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमाला' में सन १९३४ में दिये गये व्याख्यान में।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि जिस देश में गुणों के कारण मालवोत्पन्न एवं वहीं जीवन बिता देनेवाले साहित्य शिरोमणि कालिदास और कन्नौज के श्रीहर्ष के दरबारी एकमात्र 'कादम्बरी' गद्य काव्यकार बाणभट्ट ने अखिल भारतीय सम्मान पाया, उसी देश में इन्ही के समकक्ष साहित्यकार ही नहीं, अपितु पाणिनि समकक्ष व्याकरणकार और अमरसिंह समकक्ष संस्कृत-कोशकार आचार्य हेमचन्द्र गुजरात में भी प्रायः भुला दिये गये, और तीन सौ लिपिकारों को बिठाकर जिस 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' की नकलें करा अङ्ग, बङ्ग, नेपाल, कर्णाटक, कोंकण, सौराष्ट्र, काश्मीर, ईरान और लंका तक प्रतियाँ भेज दी गयी थीं, वह व्याकरण और उसका रचयिता ही नहीं भुला दिया गया, परन्तु उस व्याकरण की प्रतियां सिवा जैन भण्डारों के अन्यत्र प्राप्त तक न हों, यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है। पर सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि जैनों तक ने भी, जिनके

तीर्थंकर भगवान् महावीर की आज्ञा में चलता हुआ, और उनके परमार्थ मार्ग को प्रकाशित करने में आत्मार्पण कर देनेवाला पिछले लगभग दो हजार वर्ष में वैसा दूसरा कोई नहीं हुआ, उसी आचार्य हेमचन्द्र को प्रायः भुला दिया। तभी तो संवत् १३३२ में[1] रचित 'प्रभावक चरित्र' के २२ वें शृङ्ग में लगभग १००० श्लोकों में लिखित विस्तृत चरित्र के पश्चात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा गुजराती में उनका समग्र चरित्र लिखने का कोई भी प्रयत्न नहीं हुआ, जब कि उनसे प्रतिबुद्ध राजर्षि परममाहेश्वर परमार्हत कुमार पाल पर 'कुमारपालप्रतिबोध', 'कुमारपाल चरित्र', 'कुमारपाल प्रबन्ध', संस्कृत में और कम-से-कम चार 'कुमारपाल रास' गुजराती में सं० १२४१ से १७४२ तक के ५०० वर्ष की अवधि में लिखे गये हैं। राजर्षि कुमारपाल का चरित्र तो स्वयम् आचार्य हेमचन्द्र ने ही आठ सर्ग और ७४७ गाथाओं के द्वयाश्रय (प्राकृत) काव्य में और त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के १० वें पर्व 'महावीर चरित्र' के १२ वें सर्ग में बहुत कुछ लिख दिया था। उसी को बाद के लेखकों ने अपनी सांप्रदायिक दृष्टि से रंगते हुए रोचक और कितनी ही बातों में अविश्वसनीयता तक अतिशयोक्ति-पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है।

कुमारपाल और आचार्य हेमचन्द्र चाहे जब एक दूसरे से परिचित हुए हों परन्तु आचार्य की अगाध विद्वत्ता, लोक संग्रह वृत्ति और परम समन्वय दृष्टि का सिक्का तो राजा सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में ही जमा था और इसी पूंजी को लेकर वे राजा कुमारपाल को उसके जीवन के अन्तिम पन्द्रह वर्षों में जब कि समग्र राज्य में शान्ति स्थापित कर अपने जीवन का लक्ष्य खोजने की ओर ध्यान देने का अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ, उसको परम माहेश्वर और परमार्हत की स्थिति तक पहुँचाने में वे सफल हो पाये थे। पर यह तो आचार्य

---

१ डा० बूह्लर ने 'प्रभावक चरित्र' की रचना का समय प्रस्तुत ग्रन्थ में सं० १२५० देते हुए 'हेमचन्द्र के निर्वाण के लगभग ८० वर्ष बाद' भी लिखा है। हेमचन्द्र का निर्वाण सं० १२२९ में होना निर्विवाद निश्चित है। अतः 'प्रभावक चरित्र' का रचना समय उनके अनुमान से १३०९ में होना चाहिए। श्री देसाई ने 'जैन साहित्य का इतिहास' में इसे सं० १३३२ में रचित बताया है। डा० बूह्लर की यह भूल है या मुद्रणालय की, कहना कठिन है।

के जीवन का तीसरा और अन्तिम खण्ड था, जिसका प्रारम्भ कुमारपाल के राज्यारोहण के साथ ही हुआ था। पहला खण्ड आचार्य-पद प्राप्ति और अणहिलपुर पाटण मे पहुँच सिद्धराज जयसिंह से समागम हो जाने पर समाप्त हुआ था और दूसरा कुमारपाल के राज्यारोहण के साथ। साधु सोमचन्द से हेमचन्द्र सूरि होने तक के १६ वर्ष के आन्तरिक जीवन के प्रथम खण्ड का यथार्थ इतिहास किसी ने भी नहीं लिखा, जो कि इसके बाद के व्यक्तित्व और कृतित्व के समझने और यथार्थ मूल्यांकन के लिए परमावश्यक था। इस शिशु ने तरुण होकर किस प्रकार अपनी स्वप्न सृष्टि खड़ी की, उसे गढा और सिद्ध किया, इस कठिन पंथ के विषय मे किसी ने कदाचित् इसीलिए कुछ नहीं लिखा कि इसे समझने और मूल्यांकन करने की परम मध्यस्थ व्यापक दृष्टि किसी को प्राप्त नहीं थी। हालाँ कि इस आन्तरिक जीवन का कुछ-कुछ आकलन आचार्य श्री की अनेक रचनाओं के सूक्ष्मावलोकन से होता है।

सिद्धराज जयसिंह के साथ भी आचार्य श्री का वैसा ही निकट सम्बन्ध, प्रायः उतना ही लम्बा याने तीस वर्ष का रहा था जितना कि कुमारपाल के साथ रहा था। परन्तु दोनों सम्बन्धों में अन्तर यह था कि कुमारपाल उन्हें सदा से गुरु मानता रहा था, जब कि सिद्धराज जयसिंह उन्हें एक विश्वस्त मित्र। दोनो की मित्रता जीवन पर्यन्त जो निभती रही थी, इसका कारण था आचार्य हेमचन्द्र का सर्वदर्शन संग्रह को अपने लोकसंग्रह का ही एक अंग मानना। प्रभावक चरित्र के अलावा, मेरुतुङ्ग की प्रबन्ध चिन्तामणि, राजशेखर का प्रबन्धकोश और पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में दंतकथा रूप से अवश्य ही सिद्धराज, कुमारपाल और हेमचन्द्र तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बहुत कुछ प्रकाश मिलता है, परन्तु समग्र चित्र का प्रत्यक्षीकरण तो एक हेमचन्द्रचरित्र मे ही हो सकता था, जिसका खेद के साथ कहना पड़ता है, किसी ने प्रयत्न नही किया और न आज ही कोई साहस करता है।

इस दृष्टि से देखने पर हम जर्मन विद्वान् डा० बूह्लर के परम ऋणी हैं कि उन्होंने गुजरात और राजस्थान के जैन भण्डारों की छानबीन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र के अपूर्व व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर उस समय तक के उपलब्ध साधनों के आधार पर, भारतवर्ष की सेवा से अवकाश प्राप्त कर अपने

देश लौटते ही, आचार्य हेमचन्द्र का आधुनिक पद्धति पर एक समग्र जीवन-चरित्र अपने देशवासियों की जानकारी के लिए जर्मन भाषा में सन् १८८९ याने 'प्रभावकचरित्र' में लिखे जीवन चरित्र के ६१४ वर्ष बाद लिखकर प्रकाशित किया और हमें भी इस महर्षि के व्यक्तित्व और कृतित्व के सूक्ष्म अध्ययन की प्रेरणा देने को उसकी एक प्रति प्रवर्तक मुनिश्री कान्तिविजयजी को भेज दी जिनसे जैनग्रंथ भण्डारों एवं ग्रन्थों की खोज में उन्हें यहाँ सदा ही सहायता मिलती रही थी। हालाँकि मुनि श्री जर्मन भाषा तो दूर, अंग्रेजी भी नहीं जानते थे। मुनिश्री को उसने प्रेरणा अवश्य ही दी और वे तभी से उस प्रेरणा को फलीभूत करने के साधनों की टोह में लगे रहे।

जब बम्बई में उनका चातुर्मास हुआ तो प्रसंगवशात् एक बार उन्होंने श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया से इसका जिक्र किया और उसके गुजराती अनुवाद के प्रकाशन की इच्छा जाहिर की, क्योंकि श्री कापड़िया की ऐसे प्रकाशनों में सदा ही रुचि रहती थी और वे संस्कृत के कुछ महान् ग्रन्थ गुजराती में प्रकाशित कर भी चुके थे।

सन १९१४-१५ में मुनि जिनविजयजी बड़ोदा के गायकवाड़ प्राच्य विद्या-मन्दिर ग्रंथमाला के लिए सोमप्रभाचार्यकृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' जब सम्पादित कर रहे थे, तब उस ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने डा० बूहर की इस जर्मन पुस्तक की ओर उनका ध्यान खींचा। परन्तु मुनिजी जर्मन भाषा नहीं जानते थे। अतः ऐसे व्यक्ति की खोज में कि जो उसका सार ही कोई उन्हें बता दे ताकि उसका मर्म एवं उपयोगिता वे आंक सकें, दो वर्ष फिर निकल गये। यह सुयोग मुनिजी को पूना जाने पर मिला और ज्यों ही सार पढा तो वे उसका अंग्रेजी अनुवाद कराकर प्रकाशित करने की उपयोगिता के कायल हो गये। तभी अकस्मात श्री कापड़ियाजी की ओर से इस जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद करा देने का प्रस्ताव पहुँच गया और उनकी आर्थिक सहायता से अनुवाद का काम सम्पन्न हो गया। परन्तु न तो मुनिश्री ही उसके प्रकाशन का प्रबन्ध कर सके और न श्री कापड़ियाजी उसका गुजराती अनुवाद ही कर सके। स्वतन्त्रता संग्राम में जब कापड़ियाजी को कृष्ण निवास में विश्राम मिला तो वहाँ उन्होंने उस अंग्रेजी अनुवाद से इस पुस्तक का गुजराती अनुवाद कर

दिया और जेल से छूटने पर जब इस अनुवाद के प्रकाशन की चर्चा प्रसंगवशात् गुजराती साप्ताहिक 'जैन' के स्वामी एवं सम्पादक श्री देवचन्द दामजी कुण्डलाकर से चली तो उन्होंने इस अनुवाद को अपने साप्ताहिक के ग्राहकों को भेंट स्वरूप देने की दृष्टि से ले लिया और इस प्रकार डा० बूल्हर की इस उपयोगी पुस्तक का लगभग ४५ वर्ष बाद याने सन् १९३४ (सं० १९९०) में गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ। वयोवृद्ध मुनिश्री कान्तिविजयजी को अपने जीवनकाल में यह गुजराती अनुवाद प्रकाशित देखकर अवश्य ही सन्तोष हुआ होगा। परन्तु इसका इतनी अधिक अवधि के बाद प्रकाशित किया जाना हमारी आचार्य हेमचन्द्र के प्रति गाढ अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति का ऐसा उदाहरण है कि जो बरबस यह कहला देता है कि हमने उन्हें वस्तुतः विस्मरण कर दिया है।

उनके त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के २६ आदि मंगल श्लोकों के साथ परिशिष्टपर्व के ४ मंगल श्लोक मिलाकर और ५ श्लोक अन्यत्र कहीं से लेकर (इनके हेमचन्द्राचार्य रचित होने में कई विद्वान साधु भी शंका करते हैं) कुल ३५ श्लोक 'सकलार्हत् स्तोत्र' के नाम से पक्खी, चौमासी और सावन्त्सरिक प्रतिक्रमण में चतुर्विंशतिस्तव रूप से तपागच्छ सम्प्रदाय में पढा जाना जैनों की उनके प्रति श्रद्धा का ऐसा ही प्रमाण है जैसा कि उनके शिष्य बालचन्द्र सूरि, जिसका कि उनके प्रधान शिष्य रामचन्द्र सूरि की कुमारपाल के उत्तराधिकारी राजा अजयपाल के हाथों अकाल मृत्यु का कारण कहा जाता है, रचित 'स्नातस्या-स्तुति' का चार स्तुति रूप से उन प्रतिक्रमणों में पढ़ा जाना बालचन्द्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति का प्रमाण है।

गुजराती अनुवाद के प्रकाशित होने के दो वर्ष बाद याने सन् १९३६ में मुनि जिनविजयजी ने नव स्थापित 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' में डा० मणिलाल पटेल (शान्ति निकेतन विश्वभारती अध्यापक) का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया, क्योंकि जर्मन कुमारिका कोह्न (Kohn) से श्री मोतीचन्द कापड़िया के लिए कराया गया अनुवाद जिस पर से गुजराती में अनुवाद किया गया था, कहीं भी प्राप्त नहीं हो सका था। इस जर्मन ग्रन्थ की मुनिजी को सूचना मिलने के बीस वर्ष बाद यह अवसर प्राप्त तो हुआ, परन्तु फिर भी वे प्रस्तावना रूप से इस ग्रन्थ की उन विसंगतियों पर प्रकाश नहीं डाल सके, जो तब से अब तक की

अवधि में सुसम्पादित व प्रकाशित एवं उपलब्ध हेमचन्द्राचार्य की कृतियों से कुछ दूर और कुछ संशोधित हो सकती थीं। श्री कापड़िया भी अनुवाद के आमुख में कहते हैं कि 'डा० बूहुर के निर्णय अन्तिम नहीं माने जा सकते। अनेक स्थलों पर चर्चा करने में उन्होंने उस समय का आर्य नीति रीति का ज्ञान नहीं होने से घोटाला कर दिया है। ··· कहीं कहीं तो वे 'कुमारपाल-प्रबन्ध' के कर्ता श्री जिनमण्डन के लिए कुछ सीमा से अधिक कठोर हो गये हैं और उसकी आलोचना में मर्यादा से आगे बढ गये हैं। एक महापुरुष के चरित्र के विषय में अनेक दृष्टि बिन्दु हो सकते हैं, यह समझने के लिए ही इस ग्रन्थ का उपयोग है। यह भी चर्चा का विषय है कि डा० बूहुर ने ऐतिहासिक ग्रंथों के विश्वास के बारे में प्रारम्भ में ही अपना जो मत व्यक्त किया है, वह कहाँ तक स्वीकार्य है। उनके मतानुसार चरित्र और प्रबन्ध स्वमत की पुष्टि एवं व्याख्यान के लिए लिखे गये थे, जैसा कि प्रबन्धकोश से प्रमाणित होता है। उनके इस मत में बहुत एकदेशीयता है, परन्तु इस विषय की चर्चा अन्यत्र करना ही उचित होगा। बालदीक्षा, जिसकी चर्चा जैनों में आज खूब हो रही है, के विषय में डा० बूहुर ने स्वयम् आज से ४५ वर्ष पूर्व खोजबीन कर टिप्पणी सं० १७ लिखी है, और उसमें ब्राह्मणी विधवाओं एवम् अन्य बातों पर विचार लिखे है, वे गवेषणीय व विचारणीय हैं। इस विषय में इस पुस्तक के दूसरे अध्याय का उल्लेख एवम् उक्त टिप्पणी मारवाड़ के यतिवर्ग को ध्यान में रखकर लिखी गई प्रतीत होती है। श्री हेमचन्द्राचार्य की बालदीक्षा तो उनके गुरु देवचन्द्रसूरि के लक्षणज्ञान और स्वप्नफल निमित्त की जानकारी के कारण हुई थी, अतः वह स्वतन्त्र कोटि की बात है। यह सच है कि ऐसे असाधारण दृष्टान्त सुयोग्य गुरु के शिष्ट आश्रम में होने के कारण इन्हें सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। आचार्य हेमचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे, चालू प्रवाह के अपवाद थे और उनके गुरु महाराज भी असाधारण बुद्धिमत्तावाले थे।······फिर भी इस विषय में डा० बूहुर आदि के विचारों को दृष्टि में रखना उचित है, हालांकि इन्होंने एवं डा० पीटर्सन ने जिस दृष्टिबिन्दु से बालदीक्षा की शक्यता व्यक्त की है, उसे कोई भी जैन स्वीकार नहीं कर सकता।'

परन्तु फिर भी श्री कापड़िया यह स्वीकार करते हैं कि 'पाश्चात्य लेखक

जैन ऐतिहासिक ग्रन्थों को किस सुन्दरता से संस्पर्श करते हैं, किस होशियारी से उनकी छानबीन करते हैं, प्रत्येक वाक्य के लिए प्रमाण-सन्दर्भ देने की कितनी आतुरता रखते हैं, और अधिक खोज का अवकाश कायम रखते हुए किसी भी बात का अन्तिम निश्चय नहीं कर बैठते हैं, इसका यह पुस्तक प्रमाण है। जहाँ युगों की परतें जम गयी हों, वहाँ पृथक्करण द्वारा प्रकाश डालने का कितना दीर्घ प्रयास करते हैं और असाधारण प्रयास मे कैसा पठनीय परिणाम ला सकते हैं, इन सब बातों का विचार करने की प्रेरणा देनेवाला यह ग्रन्थ है। श्री हेमचन्द्र-चरित्र इतने विविध तथ्यों से पूर्ण है, उनका जीवन भी इतनी परिस्थितियों से गुजरा है, कि उनके सम्बन्ध मे अभी भी ग्रन्थ लिखे जाने की आवश्यकता है, बहुत खोजबीन होना जरूरी है, बहुत चर्चा-विचारणा करने की आवश्यकता है। श्री हेमचन्द्राचार्य का वास्तविक मूल्य उनकी विविधता और सर्वदेशीयता है। उन्होंने व्याकरण, काव्य, न्याय, कोश, चरित्र, योग, साहित्य, छन्द—किसी भी विषय की उपेक्षा नहीं की और प्रत्येक विषय की अति विशिष्ट सेवा की है। लोग इनके कोश देखें अथवा व्याकरण पढ़ें, योग देखें अथवा अलंकार देखें, उनकी प्रतिभा सार्वत्रिक है। उनका अभ्यास परिपूर्ण है। उनकी विषय की छानबीन सर्वावयवी है। ऐसे महान पुरुष को समुचित न्याय देने के लिए तो अनेक मंडल आजीवन अभ्यास करें तो ही कुछ परिणाम आ सकता है।'

"आधुनिक गुर्जरगिरा का मूल इनकी वाणी में है। इनके प्रत्येक ग्रन्थ में साक्षरता है, इनकी राजनीति में औचित्य है, इनके अहिंसाप्रचार में दीर्घ दृष्टि है, इनके प्रचार-कार्य मे व्यवस्था है, इनके योग में स्वानुभव के आदर्श है, इनके उपदेश में ओजस है, इनकी स्तुतियों में गांभीर्य है, इनके अलंकार में चमत्कार है, और इनके सारे जीवन मे कलिकालसर्वज्ञता है।"

खेद इतना ही है कि श्री कापड़िया का यह सब एक अभिलषित विचार ही रह गया और अपने उक्त आमुख में जिस ग्रन्थ के लिखने की कामना वे करते थे, उसके लिखने का समय निकाल ही नहीं सके। सन् १९३८ में पाटण में इसके लिए 'हेम-सारस्वत-सत्र' की स्थापना हुई, जिसका उद्घाटन करते हुए श्री कन्हैयालालजी मुंशीने इनकी प्रतिभा को मान देते हुए उचित ही कहा था कि "इस बाल साधु ने सिद्धराज जयसिंह के ज्वलंत युग के आंदोलनों को हाथ में लिया,

कुमारपाल के मित्र और प्रेरक की पदवी प्राप्त करके गुजरात के साहित्य का नवयुग स्थापित किया। इन्होंने जो साहित्य प्रणालिकाए स्थापित कीं, जिस ऐतिहासिक दृष्टि का पोषण किया, एकता का भान सरजन कर जिस गुजराती अस्मिता की नींव रखी, उसके ऊपर अगाध आशा के अधिकारी एक और अवियोज्य गुजरात का मंदिर आज रचा गया है।" इस सत्र ने पिछले २५ वर्षों मे कितनी प्रगति की और हेमचन्द्र पर कितना साहित्य प्रकाशित किया, कहा नहीं जा सकता परंतु उस सत्र की ओर से जैनाचार्य श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक समिति को आचार्य श्रीहेमचन्द्र के जीवन और उनके समग्र ग्रंथो पर एक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना अवश्य भेजी गई जो स्वीकार कर ली गई और तदनुसार गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान श्री धूमकेतु लिखित २१० पृष्ठों का 'कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य' ग्रंथ सन १९४० में और मधुसदन मोदी लिखित साढ़े तीन सौ पृष्ठों का 'हेमसमीक्षा' ग्रथ सन् १९४२ में गुजराती में प्रकाशित हुए, गुजराती में होने के कारण इन ग्रन्थों का प्रचार प्रान्त से बाहर नहीं हो पाया। ये दोनों ही लेखक जैनेतर हैं, और इन्होंने उस महर्षि के व्यक्तित्व और कृतित्व को पूरा पूरा न्याय दिया है। परन्तु अनेक उपाधिधारी जैनाचार्य अथवा जैन पंडितों में से किसी ने यह साहस नही किया।

सिंघी जैन ग्रंथमाला के प्रधान संपादक मुनि जिनविजयजी ने अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना मे मूल जर्मन ग्रंथ के प्रकाशन के बाद इस विषय से संबंधित उपलब्ध और डा० बूहर के आधारभूत ग्रंथों के प्रकाशित सुसम्पादित संस्करण और जो इसकी भ्रांति, अशुचि आदि का निराकरण करनेवाले हैं, उनकी ओर ध्यान दिलाया है जिसका अनुवाद भी यहाँ दे देना समीचीन है ताकि इस विषय के अन्वेषक को निर्देशन मिल सके, और इसी दृष्टि से परिशिष्ट रूप श्री हीरालाल रसिकलाल कापडिया एम० ए० के 'कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि एटले शुं?' से साधनावलि (Bibliography) भी दे दी गई है।

मुनि जिनविजयजी लिखते है : "डा० बूहर के इस ग्रंथ के प्रकाशन के बाद जो नई सामग्री खोज निकाली गई है, उसमे पहली है सोमप्रभाचार्यकृत 'कुमारपाल प्रतिबोध'। इसकी रचना सं० १२४१ (ई० ११८५) में अर्थात् हेमचन्द्राचार्य के निधन के ग्यारह वर्ष बाद समाप्त हुई थी। सोमप्रभाचार्य ने इसकी रचना

और समाप्ति अणहिलपुर में राजकवि श्रीपाल की वसति में रह कर की। हेमचन्द्र के तीन शिष्यों—महेन्द्रमुनि, वर्धमानमुनि और गुणचन्द्रमुनि—ने इसे बड़े ध्यान और रुचि के साथ सुना था। अणहिलपुर के प्रमुख श्रेष्ठी और कुमारपाल के अत्यन्त प्रिय श्री अभयकुमार के आदेश से इसकी प्रतियां लिखाई गई थीं। अतः यह ग्रंथ ऐसे समकालिक विद्वान की रचना है, जो हेमचन्द्राचार्य के और उनके शिष्यों एवं अनुयायियों के निकट संपर्क मे था। यद्यपि यह एक भारी ग्रंथ है, पर दुर्भाग्य से कुमारपाल और हेमचन्द्र की जीवनविषयक इतनी जानकारी यह हमें नहीं कराता, जितनी की आशा है। फिर भी जो कुछ जानकारी इसमें होती है वह पूर्ण विश्वस्त और प्रथम श्रेणी के ऐतिहासिक महत्व की है। डॉ० बूह्लर इस ग्रंथ से बिल्कुल अपरिचित थे। (गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला सं० १४ रूप से सन १९२० में इसका सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित हो चुका है। मुद्रणबाह्य होने से यह प्रमुख पुस्तकालयों में ही आज देखा जा सकता है।)

दूसरा ग्रंथ है हेमचन्द्र और कुमारपाल के समसामयिक यशःपाल रचित 'मोहराजपराजय' नाटक। (यह भी परिशिष्टों सहित उसी गायकवाड़ ग्रंथमाला में सन १९१८ में प्रकाशित हो चुका है और प्रमुख पुस्तकालयों में ही अब प्राप्त है।) इस नाटक से डा० बूह्लर परिचित तो थे और उन्होंने इस पर लक्ष्य भी किया है, परंतु ऐसा लगता है कि उन्होंने स्वयम् इसका अनुशीलन नहीं किया। इन दोनों ग्रंथों की अपने ग्रंथ की रचना मे यदि उन्होंने सहायता ली होती तो हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल के धर्मपरिवर्तन का वे अधिक सत्य विवरण दे पाते।

उपर्युक्त दो ग्रंथों के सिवा, हम और भी ऐतिहासिक संदर्भ खोज पाये हैं जिनसे हमें उन बातों को अधिक स्पष्ट और निश्चयात्मक रूप से समझने में मदद मिलती है कि जिन्हें डा० बूह्लर ने संदिग्ध अथवा संगत व्याख्या के अनुपयुक्त माना था। उदाहरणार्थ सिद्धराज के मालवा-विजय की तिथि ही लीजिये। हमें हस्तप्रतियों का कुछ ऐसी प्रशस्तियां प्राप्त है जो इस प्रश्न का निर्णय करने में सहायक हैं। डा० बूह्लर ने (अध्याय ४ में) सिद्धराज पर अन्य जैनाचार्यों के प्रभाव के विषय में शंकाएं उठाई है, ऐसी शंकाओं का निरसन चन्द्रसूरि के मुनिसुव्रतचरित्र की वि. सं. ११९३ की प्रशस्ति से हो जाता है। यह ग्रंथ प्रो० पीटर्सन के पाचवें प्रतिवेदना के पृ० ७–१८ पर प्रकाशित है।

ऐसा लगता है कि डा० बूह्लर हेमचन्द्र के समस्त ग्रंथों का अवलोकन-आलोडन सावधानीपूर्वक नहीं कर पाये थे। कर पाते तो उनसे कुछ भूलें न हो पातीं। डा० बूह्लर कहते हैं, 'अब तक ज्ञात अपने किसी भी ग्रंथ में, हेमचन्द्र ने अपने गुरु का नाम नहीं दिया है, हालांकि ऐसा करने के अनेक स्थल या अवसर उन्हें प्राप्त हो रहे थे।' यह आश्चर्य की ही बात है कि डा० बूह्लर ऐसी बात कहें। वस्तुतः उस त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में जिसके १० वें पर्व से उन्होंने भरपूर उद्धरण दिये हैं, हेमचन्द्र न केवल अपने गुरु का उल्लेख हो करते हैं अपितु यह भी कहते हैं कि उन्हीं का प्रसाद है कि वह इतने ज्ञान-सम्पन्न हो सके।[1] डा० बूह्लर इस वृहद् हेमचन्द्रीय जैन महाकाव्य को शायद नहीं पढ पाये, इसीलिए इन महान आचार्य के काव्यसौष्ठव का आनन्द नहीं ले सके। फिर डा० बूह्लर ने हेमचन्द्र का छन्दोनुशासन-छन्दशास्त्र—भी शायद ध्यानपूर्वक नहीं पढा, अन्यथा वे यह कह ही नहीं सकते थे कि इसमें सिद्धराज की प्रशंसा में एक भी श्लोक नहीं है। वृत्ति में सिद्धराज और कुमार-पाल दोनों की प्रशंसा के श्लोक हैं। डा० बूह्लर का हेमव्याकरण के प्रमाण का अनुमान भी भूलभरा है। डा० कहते हैं 'व्याकरण, यह सच है कि, १, २५, ००० श्लोकों का नहीं है जैसा कि मेरुतुंग हमें विश्वास कराता है। परन्तु वृत्ति और परिशिष्टों समेत जिनकी भी वृत्तियां हैं, इसके २० से ३० हजार श्लोक हैं।' सिद्धहैम-व्याकरण सवालाख श्लोकों का था मेरुतुंग के इस कथन की समर्थक साक्षियां बहुत हैं। स्वयं हेमचन्द्र ने ही इसका बृहन्न्यास, पतंजलि के महाभाष्य सरीखा, लिखा था। प्राचीन संदर्भों से पता चलता है कि इस न्यास के ही ८०-८४०००

---

१. शिष्यस्तस्य च तीर्थमेकभवनं पावित्र्यकृज्जगमं
स्याद्वादत्रिदशापगाहिमगिरिर्विश्वप्रबोधार्यमा ।
कृत्वा स्थानकवृत्ति-शान्तिचरिते प्राप्तः प्रसिद्धिं परां
सूरिर्भूरितपःप्रभावसतिः श्रीदेवचन्द्रोऽभवत् ॥ १४ ॥
आचार्यो हेमचन्द्रोऽभूत्तत्पादाम्बुजषट्पदः ।
तत्प्रसादादधिगतज्ञानसम्पन्महोदयः ॥ १५ ॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १० प्रशस्ति ।

श्लोक हैं। दुर्भाग्य से इस न्यास का अधिकांश नष्ट हो गया। इस न्यास के कुछ अंश ही जैन भंडारों में मिले हैं। परन्तु इनकी भी ग्रंथसंख्या २० से २५ हजार श्लोक है। सूत्रपाठ, लघुटीका, बृहट्टीका, धातुपाठ, उणादिपाठ, लिंगानुशासन आदि इस व्याकरण के भाग जो अधिकांश मुद्रित और प्रकाशित हो चुके हैं, ५०००० श्लोकों से कम नहीं है। (हेमचन्द्र के ग्रन्थों की ग्रन्थाग्रसंख्या का आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्य विजयजी के प्रमाण परिशिष्ट २ में दे दिया गया है।)

डा० बूह्लर ने हेमचन्द्र की 'प्रमाणमीमांसा' और 'स्याद्वादमंजरी' को भ्रम से एक ही समझ लिया जब कि हेमचन्द्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका' पर मल्लिषेण की टीका वस्तुतः 'स्याद्वादमंजरी' है। क्योंकि 'प्रमाणमीमांसा' का त्रुटिताश ही उपलब्ध है, इसी कारण इसको हेमचन्द्र की अन्तिम रचना माना जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हेमचन्द्र का डा० बूह्लर का लिखा यह जीवनचरित्र इन नये आधारों की दृष्टि से बहुत कुछ संशोधन और परिमार्जन की अपेक्षा रखता है। मैं यहां पर ऐसे संशोधनों व शुद्धियों का प्रमाण सहित उल्लेख इसलिए नहीं करना चाहता कि उससे यह ग्रन्थ आकार में दूना तो हो ही जायेगा। फिर यह भी न्यायसंगत है कि मैं इसे उसी रूप में रहने दूं कि जिसमें यह 'आर्ष' हो गया है।

यही कारण है कि जब अनुवादक के देखने में इस आर्ष ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद सन १९४७ में साहित्यमित्र श्री अगरचंदजी नाहटा के सौजन्य से आया, तो उसे हिन्दी में अनुवाद कर मातृभाषा के चरणों में समर्पित करने का लोभ संवरण नहीं कर सका। गुजराती में भले ही आचार्य हेमचन्द्र पर छोटी मोटी अनेक पुस्तक-पुस्तिकाएं मिलें, परंतु हिन्दी में तो हैं ही नहीं। इसका कारण यह है कि श्वेताम्बर जैन श्रावक और साधुओं की अधिकतम संख्या गुजराती-भाषी है। हिन्दीभाषी प्रांतों में मूर्तिपूजक श्वेताम्बर साधु भूले भटके ही पहुंचते और हिन्दीभाषियों में उनके प्रति श्रद्धा, भक्ति दिखाने वाले और दान करनेवाले गुजरातियों से बहुत कम मिलते हैं। अतः धर्मप्रभावना के लोलुप मुनि उनकी ओर आकृष्ट नहीं होते। चाहे इस उपेक्षा से हिन्दीभाषियों में मूर्तिपूजक

मान्यता कम से कम होती रहे, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। आज मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैनों का धर्म तो गुजरात प्रान्त में अधिकाधिक सीमित होता जा रहा है। यह प्रवृत्ति श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साहित्य हिन्दी भाषा अथवा नागरी लिपि और गुजराती भाषा में ही प्रकाशित करके रोकी जा सकती है।

अन्त में मैं सिंधी जैन ग्रंथमाला के अधिकारियों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करना कर्तव्य समझता हूं कि उन्होंने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराने की निःशुल्क आज्ञा प्रदान की। साथ ही मैं चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी के उदीयमान संचालक श्री विट्ठलदासजी गुप्त का भी कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इसका प्रकाशन स्वीकार कर लिया। इसका संपादन मेरे मित्र श्री जमनालालजी जैन ने स्वभाव से कर दिया है। वे मेरे अपने हैं, अतः धन्यवाद को वे स्वीकार ही नहीं करेंगे।

नेपानगर (म० प्र०),
९ सितम्बर, १९६४

कस्तूरमल बांठिया

त्रुटिसंशोधन—पृष्ठ २५, पंक्ति ३, "पण्डितगण सोत्साह ग्रन्थ लेकर अनहिलवाड़ लौट आये" के स्थान पर—"पण्डित उत्साह ग्रन्थ लेकर अनहिलवाड़ लौट आया" ऐसा पढ़ें।

हेमचन्द्राचार्य
जीवनचरित्र

अध्याय पहला

आधार-स्रोत

पाश्चात्य विद्वानों ने पिछले पचास वर्षों में आचार्य हेमचन्द्र की कृतियों पर बहुत ध्यान दिया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी बहुमुखी साहित्य-प्रवृत्ति द्वारा भारतवर्ष के विद्वत् समाज में श्वेताम्बर जैनों का नाम सुप्रसिद्ध किया था और गुजरात के सार्वभौम शासक पर अपने असाधारण प्रभाव से बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जैनधर्म के प्रचार में अपने देश में प्रमुख स्थान प्राप्त किया था। ऐसे असाधारण व्यक्ति के जीवन के सम्बन्ध में पूर्ण गवेषणा अभी तक नहीं की गयी है। श्री एच. एच. विलसन के ग्रन्थों में एवम् हेमचन्द्र की कतिपय कृतियों की प्रस्तावनाओं में उपलब्ध अपूर्ण और अंशतः अयथार्थ जीवनी के अतिरिक्त ब्यौरेवार जीवन के. फारब्स की **रासमाला** के पृ. १४५-१५० [द्वितीय संस्करण, बंबई, १८७८] में ही पाया जाता है। रायल एशियाटिक सोसाइटी की बंबई शाखा के मुखपत्र भाग ९ पृ. २२२ आदि में प्रकाशित श्री भाऊदाजी का छोटा-सा लेख उस जीवनवृत्त का पूरक कहा जा सकता है। फारब्स मेरुतुगाचार्य की **प्रबन्धचिंतामणि** में दी गई बातों को निःसंदेह ज्यों की त्यों दे देते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में वर्णित कथानकों को फारब्स के जीवनवृत्त में कुछ ठीक ठीक काल-क्रम से दिया गया है, तो प्रत्यक्ष असभव बातों को छोड़ भी दिया है। यह सब फारब्स की शैली के अनुरूप ही है, क्योंकि गुजरात के इतिहास को आलोचनात्मक रूप से देने का उसका दावा नहीं है, और इसलिए उसके ग्रंथ को **ऐतिहासिक दन्तकथाओं का हार** कहा गया है।

सन् १८५६ ई. से, जब कि **रासमाला** पहले पहल प्रकाशित हुई थी, किये जाने वाले नियमित अनुसंधान से हेमचन्द्र की जीवनीविषयक अनेक नई बातें प्रकाश में आयी हैं। एक ओर तो अनेक कृतियाँ जैसे कि **प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश, ऋषिमण्डलस्तोत्र भाष्य** और अनेक **कुमारपालचरित** या **कुमारपालरास** प्राप्त हुए हैं, जिनमें कलियुग के इस धर्मगुरु के जीवन पर ब्यौरेवार

चर्चा है, तो दूसरी ओर हेमचन्द्र की कृतियाँ भी प्रायः पूर्ण रूप में अब प्राप्त हैं। इसलिए इन आधार ग्रंथों में वर्णित घटनाओं एवम् स्वयम् हेमचन्द्र के कथनों से, हालांकि उसने अपने सम्बन्ध में बहुत ही कम कहा है, फिर भी तुलना कर परवर्ती आधार ग्रंथों से संगृहीत जीवन घटनाओं का परीक्षण संभव हो गया है। बाद के आधार-ग्रन्थ अधिकाश हेमचन्द्र के समय से बहुत बाद के अर्थात् विक्रम की १४ वीं, १५ वीं और १६ वी शती के लिखे हुए हैं। अतएव उन पर एक समूह रूप से विचार नहीं किया जा सकता। उनमें से कुछ का ही विचार करना यहाँ पर्याप्त होगा, क्योंकि बाद के लेखकों ने अपने पूर्व लेखकों की बातें ही दोहरा दी है।

मैने इस जीवन चरित्र के लिखने मे नीचे लिखे ग्रंथो का उपयोग किया है।

१. **प्रभावकचरित्र**—इसमे उन २२ जैनाचार्यो के जीवन-रेखाचित्र संग्रहीत है, जिन्होंने अपने धर्म की बहुत प्रभावना की थी। यह ग्रन्थ सन् १२५० ई. अर्थात् हेमचन्द्र के स्वर्गवास के ८० वर्ष पश्चात् प्रभाचन्द्र और प्रद्युम्नसूरि[१] द्वारा लिखा गया है।

२. **प्रबन्धचिन्तामणि**—काठियावाड़ के वर्धमानपुर या वढ़वाण के मेरुतुंगाचार्य द्वारा लिखित। इसमे ऐतिहासिक दन्तकथाओं का संग्रह है। इसकी रचना विक्रम सम्वत् १३६२ वैशाख शुक्ला १५ तदनुसार अप्रेल-मई १३०५-१३०६[२] ई. को समाप्त हुई थी।

३. **प्रबन्धकोश**—राजशेखर रचित। इसमे सुप्रसिद्ध साधुओं, कवियों और मुत्सद्दियों के जीवनचरित संग्रहीत है और जो दिल्ली या दिल्ली मे वि स. १४०५ तदनुसार सन १३४८-१३४९ ई में समाप्त हुआ था।[३]

४. **कुमारपालचरित्र**—जिनमण्डन उपाध्याय रचित। इसमे गुजरात के राजा कुमारपाल [वि म. ११९९-१२३०] का जीवनचरित्र संग्रहीत है और जो वि. सं. १४९२ तदनुसार सन् १४३५-१४३६ ई. में समाप्त हुआ था।[४]

इन ग्रन्थों का परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार है: **प्रभावकचरित्र** और **प्रबन्धचिन्तामणि** दोनों स्पष्टतः भिन्न-भिन्न और एक दूसरे से प्रत्यक्षतया स्वतंत्र परम्परा के प्रतीक हैं। बहुत बार वे एक दूसरे से जुदा भी पड़ जाते हैं। कुछ बातों में तो उनमें महत्त्वपूर्ण भेद है। इनमें से पुराने ग्रन्थ में कम-विश्वस्त

बातें भी मिलती हैं। **प्रबन्धकोशकार प्रबन्धचिन्तामणि** से परिचित है और हेमचन्द्रसम्बन्धी अपने विवरण को वह उसका परिशिष्ट रूप मानता है। वह स्पष्ट कहता है कि वह **प्रबन्धचिन्तामणि** की लिखी बातों की पुनरावृत्ति नहीं करेगा। वह तो पाठकों को अन्य अज्ञात किंवदन्तियों[५] से परिचय करायेगा। यह सत्य है कि प्रबन्धकोशकार की लिखी बातें पुरोगामी ग्रन्थों में साधारणतया लिखी नहीं हैं और वे परम्परा के आधार पर लिखी गई प्रतीत होती हैं जिसका वह बार-बार उल्लेख करता है। **कुमारपालचरित्त** प्रथम के तीन एवम् अन्य वैसे ही ग्रन्थों के आधार से जैसा-तैसा रचा हुआ ग्रन्थ है। कहीं तो इसमें **प्रबन्धचिन्तामणि** और **प्रभावकचरित्त** के परस्पर विरोधी उल्लेख साथ साथ दे दिये गये हैं और कहीं इनमें सामंजस्य स्थापित करने के लिए संशोधन भी कर दिया गया है। ऐसी महत्त्व की पुनरुक्ति उसी समय कभी हुई है जब जिनमण्डन की व्यापक कथन की शैली, उसके पूर्ववर्ती लेखकों की बातों को, जो कि संक्षेप से कही गई हैं, समझने में सहायक होती है। उसके पुरातन और प्रायः अप्राप्य ग्रन्थों के उद्धरण अधिक महत्त्व के हैं, विशेषतया **मोहराज-पराजय** नाटक के, जिसे यशपाल—गुजरात के महाराजा अजयदेव [अजयपाल] के अमात्य या सलाहकार—ने कुमारपाल के जैन धर्मानुयायी होने के उपलक्ष्य में लिखा था।[६] अजयपाल कुमारपाल के ठीक पश्चात् ही गुजरात का राजा हुआ था और उसने केवल तीन वर्ष ही राजगद्दी सुशोभित की थी। इसलिए इस नाटक में वर्णित बातें अवश्य ही विचारणीय है, क्योंकि वे समसामयिक सूत्रों से ली गई हैं।

सभी चरित्रों और प्रबन्धों की तरह ऊपर उल्लिखित प्राचीनतम ग्रन्थ भी विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं हैं। मध्ययुगीन यूरोपियनों या अरबों के वृत्तों से भी उनकी तुलना नहीं की जा सकती। मूलतः वे साम्प्रदायिक लेख हैं और उनका उपयोग करते समय जिस सम्प्रदाय में वे उद्भूत हुए उसकी प्रवृत्तियों को ही नहीं, और भी अनेक छोटी बातें एवम् भारतीयों के आचार-विचार की कुछ विशेषताओं को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है। राजशेखर ने अपने **प्रबन्धकोश**[७] की प्रस्तावना में जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार जैनों के चरित्र ग्रन्थों में तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रति-वासुदेवों और वीर निर्वाण

पश्चात् ५५७ वर्ष तदनुसार सन ३० ई० मे स्वर्गवासी श्री आर्यरक्षित तक के प्राचीन युगप्रधान जैनाचार्यों की जीवनियाँ हैं। उसके अनुसार उस काल के पीछे के व्यक्तियों, आचार्यों और श्रावकों के चरित्रग्रन्थों को प्रबन्ध कहा जाता है। जिस आशय से चरित्र और प्रबन्ध लिखे जाते हैं, वह है श्रोताओं के शील सदाचार को उन्नत करना, जैन धर्म की महानता और सत्ता का विश्वास कराना और आचार्यों की धर्म-देशनाओं के लिए सामग्री सुलभ करना अथवा जहाँ देशना का विषय बिलकुल व्यावहारिक या सांसारिक हो तो उसको जन-प्रिय बनाना। इस प्रकार की पद्यात्मक कृतियाँ तो सदा ब्राह्मणिक छंदशास्त्र के नियमानुसार ही रची जाती थी और ध्येय होता था रचयिता कवि के काव्य-कौशल और पांडित्य का प्रदर्शन कराना। जब रचयिता इस लक्ष्य को सामने रखते हुए कोई रचना करता है, तब स्वभावतः वह रचना के आशय को पूर्ण करनेवाली उनमें अनेक रोचक किंवदन्तियाँ भी संग्रह कर देता है, न कि वास्तविक जीवनियाँ अथवा भूतकालीन बातों का यथार्थ इतिहास। इसलिए लेखक इनमें प्रायः सदा ही दौड़ता हुआ बढ़ता चला जाता है और अत्यन्त महत्त्व की बातें भी तब अंधकार में रह जाती हैं। इन चरित्रों और प्रबन्धों के ऐतिहासिक मूल्यांकन में दूसरी कठिनाई है उनके मूल आधारों की अनिश्चितता, क्योंकि ये आधार अधिकांशतया होते है या तो साधु-परम्परा से चली आ रही कर्णोपकर्ण सुनी सुनाई कथाएं या भाटों की किंवदन्तियाँ अथवा उन आश्चर्यों और करिश्मों में गूढ़ विश्वास जो मध्ययुगीन यूरोपवासियों से कहीं अधिक मध्ययुगीन भारतीयों में बद्धमूल हैं।

प्रबन्धों के रचयिता उपर्युक्त कितनी ही बातें स्वीकार करते हुए स्वयम् अपनी मुख्य दुर्बलताओं को भी मान लेते हैं। जैसे कि राजशेखर अपने प्रबन्धकोश के उपोद्घात में अपने धर्म के प्रचारक गुरुओं को सलाह देते हुए इस प्रकार कहता है। यहाँ शिष्य को प्रत्येक बात जो यहाँ बतायी गई है ऐसे गुरु से विनम्र भाव से अध्ययन करना चाहिए, जिसने आगमों के समुद्र को पार कर लिया हो और जो अपने चरित्र की क्रियाएं उत्साह से पालता हो। तभी श्रद्धालु-जनों को मुक्ति के लिए उसे उपदेश देना चाहिए जिससे पाप की पीड़ा शमन हो जाये और इसका नुस्खा यह है कि

आगम शास्त्र का अध्ययन किसी भी प्रकार की भूल किये बिना, किसी शब्द को हीन पढ़े बिना और किसी अक्षर को विलोप किये बिना, करना चाहिए। उसकी व्याख्या उदात्त एवं मधुर वचनों में करना चाहिए ताकि सहज ही समझ में आ जाये। अपने शरीर की रक्षा करते हुए और श्रोताओं को चारों ओर से देखते हुए तब तक उपदेश करते रहना चाहिए, जब तक कि विषय भली प्रकार से उनकी समझ में न आ जाये। व्याख्याता अपने इस लक्ष्य को चरितों और प्रबन्धों द्वारा सहज ही प्राप्त कर सकता है।'

प्रबन्धचिंतामणि के उपोद्घात के श्लोक ५ से ७ में श्री मेरुतुंग ने अपने ग्रन्थ के अभिप्राय और आधारों के विषय में अधिक विवरण दिया है[८] :

५. सुप्रसिद्ध गणि गुणचन्द्र ने इस नये ग्रन्थ **प्रबन्धचिंतामणि** की प्रतिलिपि पहले पहल की है, जो महाभारत जैसी सुन्दर है।

६. पुरानी कथा चतुर जनों के लिए इतनी आह्लादकारक नहीं होती, क्योंकि उन्हें वे अनेक बार सुन चुके होते हैं। इसलिए मैंने **प्रबन्धचिंतामणि** की रचना में उन उदात्त पुरुषों के चरित्र लिखे हैं, जो हमारे सन्निकट काल के हैं।

७. विद्वान् गण अपनी-अपनी मति के अनुसार कथाएं कहते हैं, वे रूप-रंग में चाहे भिन्न ही हों, परन्तु विज्ञ जनों को कभी भी इस ग्रंथ की निंदा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह उत्तम परम्परा पर आधारित है।

इस प्रकार मेरुतुंग स्वीकार करते हैं कि उनका मुख्य लक्ष्य जन-मन-रंजन था और जिन व्यक्तियों एवम् घटनाओं का वर्णन किया है, वे कई परस्पर विरोधी रूप में प्रचलित थीं। जिन आधारों पर उन्होंने यह रचना की थी, उनकी अनिश्चितता के विषय में वे पूर्ण जानकार थे। संतोष के जो कारण इन्होंने दिये हैं, वे बहुत ही संदिग्ध कोटि के हैं।

ये स्वीकारोक्तियाँ तथा प्रत्यक्ष असंभावनाओं के अतिरिक्त अनेक ऐतिहासिक विपर्यय, भूलें और गलतियाँ **प्रबन्धचिंतामणि** में सर्वत्र मिलती हैं, जो विश्वस्त आधारों के वर्णनों से जाँची जा सकती हैं, उसके उपयोक्ता को उपयोग करते समय पूरी-पूरी सावधानी रखने की चेतावनी है। परन्तु इसका यह तात्पर्य

नहीं है कि इसमें लिखे वृत्त बिलकुल ही त्याज्य हैं। क्योंकि प्रबन्धों में कितने ही तथ्य ऐसे हैं, जो शिलालेखों और अन्य विश्वस्त आधारों से पूरी तरह प्रमाणित हैं। यह तो मानना ही होगा कि पुरातन और नवीन प्रबन्धों में वर्णित सभी व्यक्ति ऐतिहासिक हैं। किसी व्यक्ति को चाहे जितने प्राचीन या अर्वाचीन काल में रखा जाये अथवा उसके सम्बन्ध में चाहे जैसी विरोधी बातें कही जायें, फिर भी ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है कि यह विश्वास के साथ मान लिया जाय कि जिस व्यक्ति-विशेष का वर्णन प्रबन्धकार ने किया है, वह उसकी ही कल्पना है। पक्षान्तर में प्रायः प्रत्येक नया शिलालेख, पुरातन हस्तलिखित पोथियों का प्रत्येक संग्रह और प्रत्येक नये आविष्कृत ऐतिहासिक ग्रंथ इन प्रबन्धों में वर्णित व्यक्ति या व्यक्तियों की वास्तविकता को प्रमाणित करता है। इसी तरह जो समय इनमें निर्भ्रान्त दिया गया है, हमारे लिए सदा ही अत्यन्त विचारणीय है। इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों में, जो साधारणतया एक-दूसरे से स्वतंत्र से हैं, भी जहाँ इनका उल्लेख हो, हमें बिना नूनच के उन्हें ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए। यही बात स्वाभाविकतया और बातों के लिए भी कही जा सकती है। आगे आप देखेंगे कि **प्रभावकचरित्र** और **प्रबन्धचिंतामणि** में भी वर्णित हेमचन्द्रसम्बन्धी सब बातें जो उनकी रूपरेखा से संदेहजनक नहीं प्रतीत होतीं, बिलकुल सत्य हैं। सब बातों को देखते हुए यह स्वीकार करना ही होगा कि **प्रभावकचरित्र** में भी हेमचन्द्र को एक अर्द्ध पौराणिक व्यक्ति बना दिया गया है। उपर्युक्त प्रबन्धों की रचना का विचार करते हुए हेमचन्द्र के अपने और अपने समय के विषय में दिये स्व विवरण से अधिकतम महत्त्व के हैं और वे विशेषतया नीचे लिखे ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं :

१. **'द्व्याश्रयमहाकाव्य'** नामक संस्कृत काव्य, जिसमें मूलराज से कुमारपाल तक के चौलुक्यवंशी गुजरात के राजाओं का इतिहास है। [टिप्पण २८]

२. प्राकृत **'द्व्याश्रयमहाकाव्य'** या **'कुमारवालचरिय'** जो कुमारपाल की प्रशंसा में लिखा गया है। [टिप्पण ८८]

३. अपने व्याकरण की प्रशस्ति में जो अपने प्रथम आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज और उसके पूर्वजों के मान में लिखी गई है। [टिप्पण ३३]

४. 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के अन्तर्गत लिखे 'महावीरचरित्र' में। [टिप्पण ६६]

इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र के प्रायः सभी ग्रन्थों में यत्र-तत्र बातें लिखी मिलती हैं। इन प्रामाणिक आधार ग्रन्थों के बिना हेमचन्द्र की जीवनीसम्बन्धी खोज का परिणाम विश्वसनीय नहीं हो सकता है। इनकी सहायता से उनके जीवन की रूपरेखा तो कम से कम खींची ही जा सकती है। उसमें अवश्य ही कुछ महत्त्व की बातें छूट जा सकती हैं, परन्तु वे हाल के आधारों से पूरी नहीं की जा सकती हैं।

●

अध्याय दूसरा

हेमचन्द्र का बाल्य-जीवन

सभी वृत्तों के अनुसार हेमचन्द्र की जन्मभूमि धंधूका थी, जो प्राचीन समय में बड़े महत्त्व की नगरी थी और आज भी वह नगण्य नहीं है। यह अहमदाबाद जिले में है और गुजरात एवम् काठियावाड़ के बीच सीमा पर बसी हुई है।[9] वहाँ वि. स. ११४५ में हेमचन्द्र कार्तिक शुक्ल १५ तदनुसार सन १०८८ या १०८९ के नवम्बर-दिसम्बर में जनमे थे[10]। उनके माता-पिता—पाहिणी और चाचिग—जाति से बनिया थे और उनमें भी उस जाति के जो श्री मोढ बनिया[11] कहे जाते हैं, क्योंकि इस वणिक जाति का उद्भव मोढेरा से हुआ था। माता-पिता दोनों ही जैन श्रद्धावान थे। पाहिणी तो धर्म के प्रति विशेष श्रद्धावान थी और उसी श्रद्धा से अपने पुत्र को जिसका संसारी नाम चांगदेव या चंगदेव था[12], देवचन्द्र नाम के एक जैन साधु को बाल्यावस्था में ही शिष्य रूप से सौंप दिया था और इस प्रकार मुनि बना दिया था। यतियों की इस परम्परा में चांगदेव के सम्मिलित होने का विवरण भिन्न-भिन्न कहा जाता है और ये सब कथाएं आलंकारिक हैं। **प्रभावकचरित्त** में यह कथा बहुत संक्षेप में कही गई है। एक रात को पाहिणी को स्वप्न आया कि उसने अपने धर्म-गुरु को चिंतामणि रत्न भेंट किया। उसने अपने गुरु देवचन्द्र को इस स्वप्न की बात कही। उन्होंने स्वप्न का फल बताते हुए उससे कहा कि उसे शीघ्र ही ऐसा पुत्र-रत्न प्राप्त होने वाला है, जो कौस्तुभ मणि के समान होगा। चांगदेव जब पाँच वर्ष का था, अपनी माँ के साथ जिन-मंदिर गया और वहाँ वह देवचन्द्र जी के 'पीठ' पर जा बैठा। उसकी माँ देव-पूजा कर रही थी। गुरु देवचन्द्र जी ने पाहिणी को उसके स्वप्न की बात स्मरण कराई और शिष्य रूप से पुत्र उन्हें सौंप देने को कहा। पाहिणी ने पहले तो गुरु को चांगदेव के पिता से बात करने के लिए कहा। इससे गुरु देवचन्द्र मौन हो गये। तब उसने इच्छा न होते हुए भी अपना पुत्र गुरु को भेंट कर दिया, क्योंकि उसे स्वप्न की

बात स्मरण हो आई थी और गुरु का वचन उत्थापित करना नहीं चाहती थी। तब देवचन्द्र उसको लेकर स्तम्भतीर्थ (खंभात) को विहार कर गये। वहाँ श्री पार्श्वनाथ के मंदिर में वि. सं. ११५० माघ शुक्ल १४ शनिवार को उसकी प्रथम या छोटी दीक्षा हुई। इस दीक्षा का महोत्सव सुप्रसिद्ध उदयन मंत्री ने किया था। दीक्षा के बाद चांगदेव का नाम सोमचन्द्र[13] रखा गया।

मेरुतुंग ने यह कथा कुछ विस्तार से कही है। **प्रभावकचरित्र** के वर्णन से उसका वर्णन कुछ आवश्यक बातों में भिन्न भी है। उसका यह वर्णन खासा औपन्यासिक है। उसके अनुसार देवचन्द्र मुनि अनहिलवाड़ पाटण से विहार कर धधूका आये और वहाँ श्रीमोढ बनियों की पोषधशाला में बने जिन-मंदिर में दर्शनार्थ गये। आठ वर्ष का चांगदेव समवयस्क बालकों के साथ खेलता हुआ वहाँ आ गया और देवचन्द्र मुनि के आसन पर बैठ गया जो मुनियों के 'पीठ' पर बिछा हुआ था। इससे मुनि का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। गौर से देखने पर मुनि को उस बालक में अति विशिष्ट भविष्य के लक्षण स्पष्ट दीख पड़े। उसे शिष्य-रूप से प्राप्त करने की इच्छा से उन्होंने नगर के जैन वणिकों को एकत्र किया और साथ लेकर वे चाचिग के घर गये। चाचिग उस समय घर में नहीं था। उसकी पत्नी पाहिणी ने सबका समादरपूर्वक उचित स्वागत किया। देवचन्द्र ने कहा कि ज्ञाति के लोग उसके पुत्र को माँगने के लिए आये हैं। इस प्रकार की माँग से अपने को सम्मानित मानती और हर्षाश्रुओं से गद्गद होती हुई पाहिणी ने पहले तो इस माँग को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की कि उसका पति मिथ्यात्वी मत वाला है और यह कि वह अभी यहाँ उपस्थित भी नहीं है। परंतु अपने सगे-सम्बन्धियों के आग्रह को वह टाल नहीं सकी और अपना पुत्र गुरु को भेंट कर ही दिया। नियमानुसार चांगदेव से भी पूछा गया और उसने भी देवचन्द्र मुनि का शिष्य होने की इच्छा प्रकट की। तब देवचन्द्र बालक चांग को लेकर तुरत विहार कर गये और कर्णावती पहुँचे, जहाँ वे चांग को राजमंत्री उदयन के घर ले गये। उन्हें पूरा-पूरा डर था कि चांग को उनका शिष्य नहीं होने दिया जायेगा। इसलिए उन्होंने जैन संघ के एक महा-प्रभावी व्यक्ति की शरण या सहायता लेना उचित समझा। बाद की घटनाओं ने यह बता भी दिया कि

उनका डर निरर्थक नहीं था। क्योंकि थोड़े ही समय बाद चाचिग चांगदेव को लौटा लाने के लिए कर्णावती पहुँच गया। उसने पुत्र का मुंह देख लेने तक के लिए अनशन व्रत ले रखा था। कर्णावती पहुँच कर वह पहले देवचन्द्र जी के उपाश्रय में गया। वह क्रोध में इतना भरा हुआ था कि उसने गुरु का कोई भी मान-सम्मान नहीं किया और समझाने बुझाने का भी उस पर कोई असर नहीं हुआ। परंतु जब उदयन को बुलाया गया और उसने बीच-बचाव करना स्वीकार कर लिया, तब ही चाचिग कुछ शांत हुआ। उदयन उसे अपने घर ले गया। बड़े भाई की तरह उसका सम्मान किया और खूब आतिथ्य सत्कार किया। फिर उसने चांगदेव को वहाँ बुलाया और पिता की गोद में बैठा दिया। फिर चाचिग को अनेक सम्मान और बहुत धन भेंटरूप देने को कहा। चाचिग ने वह लेना अस्वीकार कर दिया। परन्तु अपने आतिथेय के आतिथ्य और सम्मान से वह इतना प्रभावित हो गया था कि अपना पुत्र उसे भेंट में देना स्वीकार कर लिया। उदयन के आग्रह करने पर उसने अपनी यह भेंट देवचन्द्र को हस्तान्तरित करना भी स्वीकार कर लिया और अन्त में चांगदेव का दीक्षा महोत्सव भी उसने किया[१४]।

एक तीसरी कथा राजशेखर ने दी है, जो न तो **प्रभावकचरित** की कथा से मिलती है और न मेरुतुंग की कथा से। इसके अनुसार देवचन्द्र विहार करते हुए बहुधा धंधूका जाते और वहाँ उपदेश करते थे। एक दिन नेमिनाग नामक एक श्रद्धालु श्रावक ने खड़े होकर कहा कि चांगदेव, उसकी बहिन पाहिणी और ठाकुर चाचिग के पुत्र को उपदेश सुनकर वैराग्य हुआ है और वह मुनि-व्रत की दीक्षा लेने का इच्छुक है। उसने यह भी कहा कि उसके जन्म के पूर्व उसकी माता को एक आम्र वृक्ष का स्वप्न आया था, जिसे दूसरे स्थान पर रोपने से उसमें बहुत फल लगे। उस पर देवचन्द्र मुनि ने कहा कि प्रार्थी यदि साधु-दीक्षा लेगा तो बड़े-बड़े काम करेगा। भाग्यशाली चिह्नों से वह अलंकृत है और सब प्रकार से दीक्षा के योग्य है। परन्तु इसके लिए उसके माता-पिता की आज्ञा आवश्यक है। जब चांगदेव की इच्छा उसके माता पिता के सामने रखी गई, तो पहले-पहल उन्होंने इसका विरोध किया, परन्तु अन्त में स्वीकृति दे दी।[१५]

कुमारपालचरित्त के रचयिता ने तो दोनों ही प्रकार की कथा को खूब सजा कर और अपने ही ढंग से कहा है और ऐसा करते हुए परस्पर विरोधी बातों की जरा भी परवाह नहीं की है। इसीलिए उसने तीन बार यह कहा है कि चागदेव वि. सं. ११४५ मे जनमा था और दो बार यह कि उसकी दीक्षा वि. सं. ११५० मे हुई थी अर्थात् ५ वर्ष की अवस्था मे, जैसा कि **प्रभावक-चरित्त** में लिखा है और एक बार यह कि दीक्षा वि. सं. ११५४ मे अर्थात् ९ वर्ष की वय में हुई जैसा कि मेरुतुंग ने लिखा है। राजशेखर की मान्यतानुसार दीक्षा के उपरान्त चांगदेव का नाम सोमदेव रखा गया था। वह यह भी कहता है कि कोई **सोमचन्द्र** भी कहते हैं।[१८]

स्पष्टतः ही **कुमारपालचरित्त** का वर्णन विचार-योग्य नहीं है। राजशेखर का वृत्तान्त भी विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि उसमे उसकी यह सिद्ध करने की चेष्टा प्रतीत होती है कि हेमचन्द्र ने जैन आगमों के अनुसार ही दीक्षा ली थी। जैन आगम के अनुसार वही व्यक्ति दीक्षा का पात्र है, जो किसीका उपदेश सुन कर और अपने ही स्वतत्र चिंतन से ससार की असारता के प्रति दृढ विश्वासी हो जाता है और जिसमें शाश्वत सुख अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा हो जाती है। वास्तव मे तो ऐसा दूसरे ही प्रकार से घटित होता है। यदि यति समुदाय को उन्हींमें से नये साधु दीक्षित करने दिये जायें जो ससार-त्याग करने के इच्छुक हों, तो साधु-समुदाय की स्थिति शोचनीय हो जाएगी और जैनों मे उपदेश करने वाले साधु हो कम हो जायेंगे। इसलिए जैन संघ के धनी श्रावकों द्वारा कम उम्र के लड़के उनके माता-पिता को धन दे कर खरीदे जाते और यतियो को साधु धर्म के शिक्षणार्थ भेंट कर दिये जाते हैं। ब्राह्मण विधवाओं की अवैध सन्तान इसके लिए विशेष पसंद की जाती है, क्योंकि वह सस्ते मे खरीदी जा सकती है और उनमें आध्यात्मिक भावना की सम्भावना इसलिए समझी जाती है कि उनके पिता बहुधा सुसंस्कृत वर्ण या जाति के होते है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि गरीब ब्राह्मण अथवा बनियों के लड़के भी दुष्काल में, जब कि जीवन निर्वाह महंगा हो जाता है, खरीदे जाते है। स्वयम् यति भी सचेष्ट होते हैं और त्यक्त अनाथ बालकों को पालपोस कर अथवा अपने धर्मानुयायी से मन-पसंद छोटे बच्चे को भिक्षा में माँग कर अपना उत्तराधिकारी

सुरक्षित कर लेते हैं[१७]। आजकल की यह स्थिति स्पष्ट ही बताती है कि राजशेखर का वर्णन एक कल्पना या आविष्कार है, विशेषकर इसलिए कि **प्रभावकचरित्त** और **मेरुतुंग** के परस्पर विरोधी विवरण से पहली बात का समर्थन होता है। ऐसे ही कारण से यह भी पूर्ण विश्वसनीय कहा जा सकता है कि देवचन्द्र मुनि ने चांगदेव को उसकी माँ से भिक्षा में माँग कर प्राप्त किया था। यह भी हर तरह से सम्भव है कि एक मुनि ने, जिसे भाग्यशाली चिह्नों से अलंकृत एक बुद्धिमान बालक ने आकर्षित कर लिया, उसे अपने शिष्य रूप से प्राप्त करने का प्रयत्न किया और माता की निर्बलता एवम् श्रद्धा का चतुराई से लाभ उठा कर अपना ध्येय पूरा किया। **प्रभावकचरित्त** की बालक के जन्म से पूर्व के स्वप्न की और उसके फल की कथा को इसलिए त्याग देना होगा कि वह तो जैनों में प्रचलित उस विश्वास के कारण गढ़ दी गई प्रतीत होती है कि महान् व्यक्ति के जन्म की बात उसकी माता को स्वप्न द्वारा पहले से ही दर्शा दी जाती है।

इसी प्रकार दोनों ही पुरातन प्रबन्धों की इस बात को भी कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता कि चांगदेव गुरु के आसन पर जा बैठा था। हाँ, यह कहना ठीक होगा कि चाचिग ने न केवल विरोध ही किया था अपितु मेरुतुग के कथनानुसार अपने पुत्र को लौटा लाने का भी प्रयत्न किया था। यदि वह, जैसा कि मेरुतुग कहता है, मिथ्यात्वी मन का था अर्थात् जैनधर्मी होते हुए भी पुरानी बातों को ही मानता था, तो उसके पुत्र के यतिधर्म में दीक्षित किये जाने से उसका विरोध सहज ही समझ में आ सकता है। वह कदाचित् उस सनातन भारतीय रूढ़ि में विश्वास करता था कि प्रत्येक भारतीय को स्वर्ग में सुख और शांति की प्राप्ति के लिए उसके उत्तराधिकारी पुरुष द्वारा पिण्डदान दिया जाना आवश्यक है और इसलिए उसके पुत्र का असमय में ही दीक्षा लेकर मुनि बन जाना बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। जैन-सिद्धान्तों से इन बातों का जरा भी मेल नहीं खाता, इसलिए इसका प्रचार जैनों में देखा भी नहीं जाता है। यद्यपि पितरों को वे पिण्डदान देते नहीं है, परन्तु सनातनी भारतीयों की भाँति पुत्र की आकांक्षा तो वे भी रखते हैं। इस विवरण को भी संदिग्ध नहीं कहा जा सकता कि उदयन ने चाचिग और गुरु देवचन्द्र जी के झगड़े में

बीच बचाव किया था। उदयन निःसंदेह ऐतिहासिक व्यक्ति है। जो लोग मारवाड़ के भीनमाल या श्रीमाल नगर से गुजरात में आये, उनमें से वह श्रीमाली बनिया था। पहले तो वह कर्णावती नगरी में बस गया, जहाँ फारब्स के कथनानुसार आज का अहमदाबाद बसा हुआ है। फिर शीघ्र ही उसे सिद्धराज जयसिंह ने स्तम्भतीर्थ का मंत्री या राजकीय सलाहकार बना दिया, जहाँ का वह कदाचित् राज्यपाल ही कहलाता था[१८]। हेमचन्द्र के जीवन में उदयन का बार-बार उल्लेख आता है। **प्रभावकचरित्त** की यह छोटी सी बात कि सुप्रसिद्ध उदयन ने खभात में चागदेव का दीक्षा महोत्सव किया था, यही सिद्ध करती है कि मेरुतुंग का उदयन को देवचन्द्र गुरु का संरक्षक आश्रयदाता बताना भी सत्य है। यदि ऐसा है, तो चांगदेव की दीक्षा के समय उम्र संबंधी और नगर सम्बन्धी दोनों ही पुरातन प्रबन्धों के विरोध का हल भी निकल आता है। पहली बात मेरुतुग की सत्य है और दूसरी बात **प्रभावकचरित्त** का वर्णन। यह तो असंभव-सी बात है कि चांगदेव पाँच वर्ष की अवस्था में वि. सं. ११५० में दीक्षित हुआ था। इस पर कदापि विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह भी कहा जाता है कि तब उदयन राजकीय सलाहकार हो गया था और खंभात में ही रहता था, जब कि सिद्धराज जयसिंह ही राज्य-सिंहासन पर वि सं. ११५० में बैठा था। इसलिए आठवें या नवें वर्ष में दीक्षित होने की मेरुतुग की बात जिसका होना जिनमंण्डन ने वि. सं. ११५४ कहा है, अवश्य ही ग्राह्य है। पक्षान्तर में दीक्षा खंभात मे, न कि कर्णावती मे, होनी चाहिए। यह भी **प्रभावकचरित्त** में कहा गया है कि कुमारपाल द्वारा जैन धर्म अंगीकार कर लेने के बाद उसने हेमचन्द्र की दीक्षा की स्मृति में खंभात में एक दीक्षा-विहार बनाया था। इस बात से मेरुतुंग भी सहमत है, हालाँकि वह पहली बात मे उसके विरुद्ध ही जाता है[१९]।

ये आधार हेमचन्द्र के जीवन के दीक्षा के पश्चात् के बारह वर्ष के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं बताते, जो कि उन्होंने गुरु की सेवा और विद्यार्जन में बिताये थे। इन वर्षों का कुछ स्पष्ट वर्णन **प्रभावकचरित्त** में ही हमें मिलता है। वहाँ कहा गया है कि हेमचन्द्र ने तब न्याय एवम् तर्क का, व्याकरण एवम् काव्य का अध्ययन किया था और इनमें उन्हें पूर्ण प्रवीणता भी उनकी चमत्कारिक बुद्धि के

कारण प्राप्त हो गई, जो चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान स्पष्ट और निर्मल थी। यह इसीसे स्पष्ट है कि सोमचन्द्र ने ब्राह्मणीय क्रियाओं की इन शाखाओं का अध्ययन जैन दर्शन के अपने अध्ययन की संपूर्ति रूप में किया था, क्योंकि जैन धर्म के गुरु और प्रचारक की उनकी शिक्षा में यह आवश्यक था कि उन्हें प्राकृत भाषा का भी ज्ञान हो, जिसमें जैन सूत्र लिखे हुए हैं। साथ ही संस्कृत में रची उनकी वृत्तियाँ एवम् उनसे सम्बन्धित सारे ही अन्य साहित्य का भी। इनके आगामी जीवन की साहित्य-साधना से प्रकट है कि **प्रभावक-चरित्त** में वर्णित उनकी योग्यता सही है और यह भी कि उनमें औसत से अधिक बुद्धिवैभव था। इस बात का कहीं कोई वर्णन नहीं है कि गुरु देवचन्द्र ने ही उन्हें शिक्षित किया था अथवा और कोई उनके शिक्षा-गुरु थे। पहली कल्पना असंभव तो नहीं लगती, क्योंकि देवचन्द्र भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। उनका नाम हेमचन्द्र के शिक्षकों की सूची में यद्यपि गिनाया नहीं गया है, परंतु राजशेखर कहता है कि वे पूर्णचन्द्र गच्छ की उस परम्परा के थे जिनमें यशोभद्र हुए थे। ये यशोभद्र वटपद्र [बड़ोदा] के राणा थ, जिन्होंने दत्तसूरि के उपदेश से जैन धर्म की दीक्षा ली थी। उन यशोभद्र के शिष्य हुए प्रद्युम्नसूरि जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की और इनके शिष्य गुणचन्द्र ही देवचन्द्र के शिक्षागुरु थे। राजशेखर यह भी कहता है कि देवचन्द्र ने ठाणांग [स्थानांग] की वृत्ति भी लिखी थी और श्री शांतिनाथ का चरित्र भी। यह सत्य हो सकता है, क्योंकि देवसूरि ने अपने श्री शातिनाथ चरित्र के उपोद्घात मे लिखा है कि यह हेमचन्द्र के गुरु श्री देवचन्द्र के महान् प्राकृत काव्य का संस्कृत अनुवाद है। देवचन्द्र की विद्याशाला से संबंधित राजशेखर का वर्णन कुछ अंश में गलत है। यह सत्य है कि जिनमण्डन भी ऐसा ही कहता है कि वज्र शाखा कोटिक गण और चन्द्र गच्छ के दत्तसूरि ने राणा यशोभद्र को उपदेश देकर दीक्षित किया था। उनकी शिष्य परम्परा भी वह वही बताता है :—प्रद्युम्नसूरि, गुणसेन, देवचन्द्र। परन्तु **प्रभावकचरित्त** [देखो टिप्पण १३ श्लो १४] मे, देवचन्द्र को प्रद्युम्नसूरि ही का शिष्य कहा गया है और हेमचन्द्र ने स्वयम् अपने लिखे **महावीरचरित्र** में कहा है कि वे वज्रशाखा में और मुनिचन्द्र की परम्परा के

है[२०]। अब तक खोजे गए उनके किसी भी ग्रन्थ में हेमचन्द्र ने अपने शिक्षा-गुरु का नाम नहीं दिया है, हालांकि ऐसा करने के अवसर उन्हें पर्याप्त प्राप्त थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका अपने गुरु से सम्बन्ध पीछे के काल में अच्छा नहीं रहा था। इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती भी मेरुतुंग ने उद्धृत की है कि देवचन्द्र ने अपने शिष्य को सुवर्ण-सिद्धि की शिक्षा देना अस्वीकार कर दिया था, क्योंकि उन्होंने जो अन्य सुलभ विद्यायें सिखाई थीं, उन्हें वह अच्छी तरह पचा नहीं सका था इसलिए वे ऐसी कठिन विद्या के सीखने के न तो पात्र थे और न योग्य ही[२१]। इन कठिनाइयों का हल चाहे जो भी हो, इतना तो निश्चित है ही कि देवचन्द्र एक ऐसे गुरु थे कि जिनमे हेमचन्द्र जैसे शिष्य की शिक्षा के सभी गुण थे।

सोमचन्द्र की शिक्षा के अन्तिम वर्षों में **प्रभावकचरित्र** में एक यात्रा, या यों कहिए कि यात्रा की योजना का वर्णन है कि जिसके द्वारा सोमचन्द्र शिक्षा की देवी ब्राह्मी का वरदान प्राप्त करना चाहते थे, ताकि प्रतिस्पर्द्धी से वे अपराजित रहें। अपने गुरु की आज्ञा से वे ब्राह्मी के देश ताम्रलिप्ति को दूसरे शास्त्रज्ञ साधुओं को साथ ले कर रवाना हुए। परन्तु वे नेमिनाथ की मोक्ष-भूमि रेवतावतार तक ही पहुँचे और वहां वे माधुमत सार्थ [?] में योग-साधना मे लग गये। साधना करते हुए, देवी सरस्वती प्रत्यक्ष हुई और कह गई कि उनकी इच्छा उनके घर में ही पूरी हो जाएगी। इसलिए उन्होंने विहार का और कार्यक्रम स्थगित कर दिया और अपने गुरु के पास लौट आये[२२]। यद्यपि भारतवर्ष मे यह कोई असाधारण बात नहीं है कि एक कवि या विद्वान सारस्वत मंत्र की साधना करता है कि जिससे उसे वाणी पर प्रभुता प्राप्त हो। स्वयम् हेमचन्द्र भी अपने ग्रन्थ **अलंकारचूडामणि**[२३] में ऐसी साधना में अपना अखंड विश्वास बताते हैं फिर भी इस प्रकार की किंवदन्ती को हम स्पष्टकर्तृ कथानक मात्र ही कह सकते हैं। और हमारी इस धारणा को लेखक की भौगोलिक असाधारण सीधी कल्पना से भी समर्थन मिलता है। जब प्रबन्धकार यह कहता है कि सोमचन्द्र ब्राह्मी देश अर्थात् काश्मीर को बंगाल स्थित ताम्रलिप्ति या तमलुक हो कर जाना चाहते थे, तो यह स्पष्ट है कि वह ब्राह्मी देश को ब्रह्मदेश अर्थात् बर्मा समझ रहा है। इससे भी असंभव बात

यह है कि सोमचन्द्र यात्रा करते हुए पहले रैवतावतार अर्थात् काठियावाड़ स्थित जूनागढ़ पहुँचे थे। आगे चल कर जिनमण्डन को इस भूल का पता लग गया और उसने इसे सुधार कर अधिक विश्वस्त कर दिया है [देखो टिप्पण २२]।

सभी आधार-ग्रन्थों से सोमचन्द्र की शिक्षा वि. सं. ११६६ में समाप्त हो गई थी क्योंकि इस वर्ष उन्हें सूरि अर्थात् आचार्य पद से विभूषित कर दिया गया था और वे शास्त्रों के स्वतंत्र व्याख्याता और अपने गुरु के उत्तराधिकारी मान लिये गये थे। इस अवसर पर उनका नाम जैन साधुओं की परम्परा के अनुसार फिर बदल दिया गया और तब से वे हेमचन्द्र कहलाने लगे। **प्रभावकचरित्र** का मत है कि देवचन्द्र इस समय तक वृद्ध हो गये थे और ऐसे घोर तप करने लगे थे, जो सच्चे जैन को निर्वाण प्राप्त कराते हैं। मेरुतुंग की उपर्युक्त किंवदन्ती के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रबन्ध ग्रन्थ में इसके बाद देवचन्द्र का कोई वर्णन नहीं है। **प्रभावकचरित्र** में यह भी कहा गया है कि पाहिणी ने भी, जब कि उनके पुत्र को आचार्य पद दिया गया, चारित्र ले लिया था अर्थात् वह भी साध्वी [आर्यिका] बन गई थी। मेरुतुंग के एक अन्य विवरण के अनुसार पाहिणी ने बहुत काल तक चारित्र-धर्म पालन कर वि. सं. १२११ के लगभग अपनी इहलीला समाप्त की थी।

अध्याय तीसरा

हेमचन्द्र और जयसिंह सिद्धराज

सूरि पद से विभूषित किये जाने के तुरन्त बाद के हेमचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध में मूलाधार ग्रन्थों में कुछ भी नहीं कहा गया है। वे कितने ही वर्षों को लांघ जाते हैं और अनहिलपाटण या पट्टण, आधुनिक अनहिलवाड़-पाटण गुजरात की राजधानी, में आने के बाद की जीवन-कथा कहने लगते हैं, जहां उन्होंने जीवन का अधिकांश बिताया था, जैसा कि प्रबन्धों में स्पष्टतः और नम्रता पूर्वक कहा गया है। राजाश्रय में वहीं हेमचन्द्रसूरि को अपने धर्म के प्रचारक एवम् साहित्यकार के सम्माननीय जीवन का विशाल क्षेत्र मुक्त मिला। उनका प्रथम आश्रयदाता था चौलुक्य राजा सिद्धराज जयसिंह, जिसे सिद्धराज भी कहा जाता है। इसने वि. सं. ११५० मे राज्यासीन हो कर गुजरात एवम् उसके आस-पास के पश्चिमी भारत के प्रांतों पर वि. सं ११९९ तक राज्य किया था। सभी लेखों के अनुसार जयसिंह चौलुक्य राजवंश का एक अन्यतम शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी राजा था। उसने पूर्व और पश्चिम, दोनों ओर अपने राज्य का विस्तार किया। उसके सफल अभियानों में से काठियावाड़ के दक्षिण में सोरठ या सौराष्ट्र विजय और उज्जैन पर अधिकार कर उसके राजा यशोवर्मन को कैद करने एवम् कुछ काल के लिए पश्चिमी मालवा को अपने साम्राज्य में मिला लेने का प्रबन्धों में विशेष रूप से वर्णन है। पाटण, सिद्धपुर, कपड़वंज, वीरमगांव और अन्य नगरों में उसके द्वारा बांधे गये बड़े-बड़े तालाब, और बनवाये गए महल आदि के लिए भी वह सुप्रसिद्ध है। ये तालाब तो कुछ-कुछ आज भी विद्यमान हैं। प्रबन्धों के अनुसार वह सुकुमार साहित्य [Belles-letters] का खास मित्र था और कवियों द्वारा अपने कृत्यों के अमर किये जाने की तीव्र इच्छा रखता था। इसीलिए भाटों, चारणों और कवियों को वह संरक्षण देता था। उसका राजकवि, कवीश्वर श्रीपाल था। परंतु अनेक काव्यों का रचयिता होते हुए भी अपने सरक्षक या आश्रयदाता के दिये कार्य

को वह सफलतापूर्वक कदाचित् ही निबाह सका था। उन्हीं प्रबन्धों में जयसिंह के दर्शन-शास्त्र प्रेम का भी वर्णन है। यद्यपि अपने पूर्वजों के अनुसार ही वह शैव था और कितनी ही कथाओं के अनुसार उसने ब्राह्मण धर्म के अधिकारों की रक्षा भी बराबर की थी, तथापि पुनर्जन्म की शृंखला से पूर्ण विमुक्त होने की उत्कट अभिलाषा से उसने सभी देशों से भिन्न-भिन्न धर्म के धर्माचार्यों को बुलाता और उनसे सत्य, ईश्वर और धर्म सम्बन्धी प्रश्नों पर अपने समक्ष चर्चा करवाता था। हेमचन्द्र ने भी इसका अपने व्याकरण की प्रशस्ति [देखो टिप्पण ३३ श्लोक १८, २२] में जहां जयसिंह के साधुत्व की ओर झुकाव का वर्णन है और द्वयाश्रयकाव्य में जहां साहित्य, ज्योतिष एवम् पुराण [देखो टिप्पण २८] आदि सिखाने की शालाओं का वर्णन है, समर्थन किया है।

यह सहज ही समझ में आ सकता है कि संस्कृत साहित्य, ब्राह्मण-विद्याओं और काव्यशास्त्र में प्रवीण एक जैन साधु भी ऐसे राजा की कृपा प्राप्त कर सकता है। परन्तु प्रबन्धकार इस बात में एकमत नहीं हैं कि हेमचन्द्र का राजा जयसिंह से पहले पहल परिचय किस प्रकार हुआ था। प्रभावकचरित्र के अनुसार तो हेमचन्द्र का राजा जयसिंह से परिचय अकस्मात् ही हो गया था और इस प्रकार प्राप्त अवसर का कुशलतापूर्वक लाभ उठाते हुए उन्होंने राज-महल तक प्रवेश पा लिया। ऐसा कहा जाता है कि एक बार जयसिंह अपने नगर की वीथिकाओं में हाथी पर बैठा घूम रहा था तब उसने श्री हेमचन्द्र को किसी ढलाव के पास की एक दूकान के पास खड़ा देखा। राजा ने उस चढ़ाई [टिम्बक] के पास ही अपना हाथी खड़ा कर उन्हें अपने पास बुलाया और कुछ सुनाने को कहा। हेमचन्द्र ने तुरत श्लोक रच सुनाया, 'हे सिद्धराज ! राज-हस्ति को निःसंकोच मुक्त उछलने दो। विश्वरक्षक गजों को धूजते रहने दो। उन सब का क्या उपयोग है ? क्योंकि तू ही तो विश्व का एक मात्र रक्षक है। राजा यह श्लोक सुन कर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने हेमचन्द्र को प्रतिदिन दोपहर के समय राजमहल में आने और कुछ सुनाने का निमंत्रण दे दिया। हेमचन्द्र ने वह निमंत्रण तत्काल स्वीकार कर लिया और धीरे-धीरे राजा की मित्रता प्राप्त कर ली। इस किंवदन्ती से मूलतः जिनमण्डन भी सहमत है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उसने इसे किसी अन्य आधार से लिया था,

क्योंकि उसने हेमचन्द्र का रचा श्लोक दूसरा ही दिया है। यही नहीं, इसने हेमचन्द्र से राजा के सम्भाषण का, उसके अकस्मात मिलन का एवम् राज्याश्रय की प्राप्ति का और ही कारण बताया है[२४]। मेरुतुंग ने इस अकस्मात मिलन और उसके फल की बात लिखी ही नहीं है। उसके अनुसार हेमचन्द्र का जयसिंह से परिचय बहुत बाद में हुआ था जब कि वह मालवा के विरुद्ध अपने अभियान में सफल हो कर लौट रहा था। इस अवसर पर जयसिंह ने बड़ी धूम-धाम से नगर-प्रवेश किया और जुलूस में मालवा के अधिपति यशोवर्मन को बन्दी के रूप में एवम् मालवा की लूट से प्राप्त धन का खूब प्रदर्शन किया। विजयी राजा को आशीर्वाद देने की भारतीय परम्परा के अनुकूल सभी धर्मों के धर्मगुरु तब अनहिलवाड़ आये। जैन गुरुओं के समूह में एक हेमचन्द्र भी थे, जिन्हें उनके पाण्डित्य के कारण सब की ओर से प्रतिनिधि चुन लिया गया था। उन्होंने राजा का इन शब्दों में अभिनंदन किया, "हे कामधेनु! अपने दुग्ध से पृथवी का सिंचन करो। हे सागर! मुक्तकों का स्वस्तिक बनाओ। हे चन्द्र! तुम लबालब भरा कटोरा हो जाओ। ओ दसों दिशाओं के रक्षक गजों! कल्पवृक्ष की शाखाएं लाओ और उनकी जयमाला बना कर अपनी लम्बी सूंडों से अभिषेक करो। क्योंकि भूमण्डल को विजय कर सिद्धराज क्या नहीं लौटा है?" इस श्लोक को, जो व्याख्या द्वारा सुशोभित कर दिया गया था, राजा ने बहुत ही प्रशंसा की और उसके रचयिता को बहु मान दिया[२५]।

प्रभावकचरित्र [देखो टिप्पण २४] के कर्ता और जिनमण्डन दोनों ही इस कथा से परिचित हैं। परन्तु वे अनुमान लगाते हैं कि राजा के मालवा-विजय से लौटने पर हेमचन्द्र ने अपना पूर्व परिचय ही पुनरुज्जीवित किया था और राजमहल में पधारने का फिर से उन्हें निमंत्रण दिया गया था।

इन वर्णनों की विश्वसनीयता पर इतना ही कहा जा सकता है कि दूसरा वर्णन निःसंदेह ऐतिहासिक होना चाहिए। जिस श्लोक द्वारा हेमचन्द्र ने राजा का अभिनंदन किया था, वह भी यथार्थ है। क्योंकि वह हेमचन्द्र के व्याकरण के २४वें पद के अन्त में प्राप्त है। इस व्याकरण में जैसा कि आगे बताया जायेगा, हेमचन्द्र ने चौलुक्य राजाओं के मान में ३५ श्लोक लिखे हैं। "क्या सिद्ध राजा जिसने भूमण्डल का विजय किया, अब आ नहीं रहा है?" इन

अन्तिम शब्दों का सफल अर्थ तभी निकल सकता है जब कि यह माना जाये कि श्लोक, जैसा कि प्रबन्धों में कहा है, विजय'समारोह के अवसर पर ही रचा गया था और पीछे से उसे व्याकरण में स्थान दे दिया गया। बाजार में मिलने की किंवदन्ती के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि उनका इतना सच होना संभव नहीं है। अपने आपमें यह बड़ी साहसिक कथा अवश्य है। यह भी असम्भव नहीं है कि एक राजा जो काव्य-रचना में रुचि रखता था, ऐसे व्यक्ति को सम्बोधन करे जिसका बाह्य वेश उसे आकर्षित करे और उसके सुन्दर अभिवादन के उपलक्ष में वह उसे राजपण्डितों और कवियों के दरबारों मे उपस्थित होने की आज्ञा दे दे। यह कुछ कठिनाई से ही समझ में आ सकता है कि जयसिंह एक अपरिचित जैन साधू के काव्य कौशल का पूर्वानुमान लगा सकता था। यह और भी शंकास्पद बात हो जाती है कि जिस श्लोक की रचना हेमचन्द्र ने इस अवसर पर की वह दो रूप में दिया जाये और उनमें से कोई भी हेमचन्द्र की किसी भी विश्वस्त रचना में न पाया जाये। अन्त में यह कि **प्रभावकचरित्र**कार को पहली और दूसरी भेंट के बीच के समय में हेमचन्द्र और जयसिंह के सम्पर्क पर कुछ भी कहने को नहीं मिला। केवल जिनमण्डन ने इस सम्पर्क की कुछ दन्तकथाएँ दी हैं। परन्तु वे भी दूसरे आधारों से[२६] बाद की ही लगती हैं। ऐसी दशा में पहली दन्त-कथा की विश्वसनीयता संदिग्ध है। फिर भी कुछ कारण ऐसे है, जिनसे यह संभव लगता है कि हेमचन्द्र जयसिंह के दरबार में मालवा-विजय के पूर्व ही प्रवेश पा गये थे। मालवा के विरुद्ध अभियान, जिसकी तिथि किसी भी प्रबन्ध ग्रन्थ मे ठीक-ठीक नहीं दी गई है, वि सं. ११९२ के बाद ही होना चाहिए, क्योंकि उस वर्ष के माघ माह में जैसा कि प्रमाणित है, राजा यशोवर्मन ने जो पराजित हो कर जयसिंह द्वारा बन्दी बना लिया गया था, भूमि का दान किया था। और यह बात प्रमाणित करती है कि वह उस समय तक राज्यासीन ही था[२७]। बहुत संभव है कि इसके कुछ समय बाद ही यह अभियान हुआ हो, क्योंकि जयसिंह स्वयम् वि. सं. ११९९ मे काल प्राप्त हो गया था। हेमचन्द्र लिखित **द्व्याश्रयकाव्य** में वर्णित उसके जीवन-चरित से यह साक्षी मिलती है कि जयसिंह ने मालवा-विजय के पश्चात् बहुत वर्षों तक राज्य किया था[२८]। अब यदि हेमचन्द्र जयसिंह से पहले

पहल परिचित उसके विजयोपरान्त नगर-प्रवेश महोत्सव के समय ही हुए, तो ऐसा वि. सं. ११९४ के पहले किसी भी प्रकार से संभव नहीं हो सकता, क्योंकि तब उनको पांच वर्ष का समय ही उसके दरबार को प्रभावित करने का मिलता है। परन्तु यह प्रभाव पाँच वर्ष से कितने ही अधिक काल तक रहा था इसका प्रमाण मेरुतुंग वर्णित जयसिंह के समक्ष श्वेताम्बर देवसूरि और दिगम्बर कुमुदचन्द्र के बीच हुआ, शास्त्रार्थ है। मेरुतुंग कहता है[29] कि इस अवसर पर युवक [किंचिद् व्यतिक्रान्तशैशव] हेमचन्द्र देवसूरि के समर्थकों के रूप में उपस्थित थे और राजमाता मयणल्ला देवी की कृपा अपने पक्ष की ओर प्राप्त करने में सफल हुए थे। **प्रभावकचरित्र** [२१-१९५] में इस शास्त्रार्थ की यथार्थ तिथि वि. स. ११८१ वैशाख शुक्ल १५ दी है[30], जब कि मेरुतुंग इस शास्त्रार्थ को मालवा-विजय के बाद जयसिंह के राज्यकाल की समाप्ति का बताता है। **प्रभावकचरित्र** की बात को समादर देना उचित है इसमें कोई संशय नहीं है। मेरुतुंग ने इस तिथि को आगे बढ़ाने मे अवश्य ही प्रयास किया है। यह इस बात से भी प्रमाणित होता है कि हेमचन्द्र उस समय बाल थे। यदि शास्त्रार्थ वि. स. ११९० के आस-पास हुआ होता तो हेमचन्द्र की उम्र उस समय पचास वर्ष से ऊपर होनी चाहिए थी। ऐसी दशा में इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जिन आधार-सूत्रों से मेरुतुंग ने लिखा है, उनसे भी जयसिंह के साथ हेमचन्द्र का पहले पहल परिचय मालवा युद्ध के पहले ही हो गया था। इससे यह तो प्रमाणित नहीं होता कि **प्रभावकचरित्र** में कही गयी दोनों के प्रथम मिलन की कथा ही सत्य है। उसकी आन्तरिक असंगति तो पहले जितनी हो रहती है। यह कथा हेमचन्द्र के उन प्रख्यात श्लोकों को, जो उन्होंने राजा के सामने कहे थे, ऐतिहासिकता देने के लिए उस समय गढ़ ली गई हो जब कि जयसिंह के दरबार में उनके प्रथम प्रवेश की सच्ची कथा भुला दी गई हो। विभिन्न धर्मों की बातें जानने के जयसिंह के प्रयत्नों में भी इसकी खोज की जा सकती है। बहुत संभव है कि परम प्रभावशाली उदयन ने हेमचन्द्र की इस विषय में सहायता की हो। आगे चल कर हम यह भी देखेंगे कि उदयन के पुत्रों का भी हेमचन्द्र के साथ निकटतम और घनिष्ठ संबंध था। यह सहायता बिलकुल स्वाभाविक थी और इसकी आशा भी की जा सकती थी, क्योंकि उदयन

ने शिशु चांगदेव को अपने संरक्षण में लिया था। हेमचन्द्र का जयसिंह से पहला परिचय कदाचित् इतना घनिष्ठ नहीं रहा, क्योंकि इस संबंध में प्राचीनतम आधार में कुछ भी नहीं कहा गया है। जिनमण्डन का कथानक तो विश्वसनीय है ही नहीं।

राजा को प्रवेश के समय दिये गये आशीर्वाद के कारण हेमचन्द्र चिरस्थायी प्रभाव स्थापित करने में सफल हुए थे, ऐसा प्रतीत होता है। पहले तो वे दरबारी पण्डित हुए और फिर दरबारी इतिहास लेखक। पहली अवस्था में जयसिंह ने उनको एक नया व्याकरण बनाने का आदेश दिया था। **प्रभावकचरित्र** में, जिन अन्य बातों से प्रभावित हो कर जयसिंह ने ऐसा आदेश दिया, इस प्रकार कहा है[31]।—नगर में विजय-प्रवेश के कुछ काल बाद उज्जैन से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ राजा जयसिंह और उसके दरबारी पण्डितों को दिखाये गये। जयसिंह उनमें से एक व्याकरण ग्रन्थ की ओर बहुत आकर्षित हुआ। उसने उस ग्रन्थ के विषय में पूछताछ की। उसे बताया गया कि शब्द-व्युत्पत्ति का वह ग्रन्थ परमार राजा भोज का बनाया हुआ है। उस बहुज्ञ राजा की, जिसने सभी विषयों पर ग्रन्थ रचे थे, बहुत प्रशंसा की गई। इस प्रशंसा ने राजा जयसिंह की ईर्ष्याग्नि को प्रज्वलित कर दिया और खेद प्रकट किया कि उसके भंडार में उसके राज्य में ही लिखे हुए ऐसे ग्रन्थों की माला कोई भी नहीं है। यह सुन कर वहाँ उपस्थित सभी पण्डितगण हेमचन्द्र की ओर इस प्रकार देखने लगे मानो वे हेमचन्द्र को ही गुजरात का भोज होने योग्य मानते हैं। राजा जयसिंह ने उन सबका यह मत स्वीकार किया और हेमचन्द्र से प्रार्थना की कि वह एक नये व्याकरण की रचना करे क्योंकि उपलब्ध व्याकरण या तो बहुत छोटे हैं या बहुत ही कठिन और पुरातन। अतः वे अपना लक्ष्य सिद्ध करने में असफल हैं। हेमचन्द्र ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रार्थना स्वीकार करने में सहमति बतायी, परन्तु आवश्यक साधन जैसे कि प्राचीन आठ व्याकरण ग्रंथ जिनकी सकल पूर्ण प्रतियाँ काश्मीर स्थित सरस्वती मन्दिर में ही उपलब्ध हैं, जुटा देने में सहायता की प्रार्थना की। जयसिंह ने तुरत उन ग्रन्थों को लाने के लिए उच्च अधिकारी परवारपुर भेज दिए। देवी के मन्दिर में ही अधिकारी गण जा कर ठहरे और अपनी प्रार्थना देवी से की। उनकी कीर्तिमयी

प्रार्थना सुन कर देवी सरस्वती साक्षात् हुई और उसने अपने पुस्तकाध्यक्ष को आदेश दिया कि उसके वरद पुत्र हेमचन्द्र को इच्छित ग्रन्थ तुरन्त भेज दिये जायें। उस आदेश का पालन तत्काल ही किया गया और पण्डितगण सोत्साह ग्रन्थ ले कर अनहिलवाड़ लौट आये। लौट कर इन राजदूतों ने अपने राजा से वर्णन किया कि उनके कृपापात्र हेमचन्द्र पर तो देवी की असीम कृपा है। ऐसा व्यक्ति अपने देश में है, राजा ने यह अपने देश का अहोभाग्य माना। लाये हुए ग्रन्थों का हेमचन्द्र ने आलोडन किया और अपना व्याकरण आठ अध्याय और बत्तीस पादों मे पूर्ण कर दिया। राजा के आदर में उसको **"सिद्धहेमचन्द्र"** नाम दिया अर्थात् "हेमचन्द्र रचित एवम् सिद्धराज को समर्पित"। उस समय की प्रथा के अनुसार उस ग्रन्थ में पाँच भाग थे:—सूत्र, उणादि प्रत्ययों से बनाये गये शब्दों की सूची, मूल धातु कोश, लिंग सम्बन्धी नियम, और विस्तृत टीका। इनके अतिरिक्त भी हेमचन्द्र ने दो विशेष कोश और इसमे दिये—नाममाला और अनेकार्थ कोश। इस व्याकरण को राज-मान्य करने के लिए उसने उसके अन्त में चौलुक्य वंश के मूलराज से लेकर सिद्धराज जयसिंह तक के राजाओं की कीर्ति गाथा की ३५ श्लोक की एक प्रशस्ति जोड़ दी। प्रत्येक पाद के अन्त में एक श्लोक और सारे ग्रन्थ के अन्त में चार श्लोक दिये है। समाप्ति पर इस व्याकरण का भरे दरबार में पाठ किया गया और उसकी स्पष्टता और शुद्धता के कारण वह पण्डितों द्वारा एक आदर्श ग्रन्थ स्वीकार कर लिया गया। राजा ने तब ३०० लिपिकारों को अनहिलवाड़ में बुलाया और उनसे तीन वर्ष तक इस व्याकरण की कितनी ही प्रतिलिपियां करवाईं। एक-एक प्रति उसने अपने राज्य के प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय के मुख्य धर्माचार्य को भेंट की और शेष भारतवर्ष में सर्वत्र भेजीं इतना ही नहीं, भारत से बाहर के देशों में जैसे कि ईरान, लंका और नेपाल में भी भेजीं। काश्मीर में २० प्रतियाँ भेजी गई जिसे देवी सरस्वती ने अपने पुस्तकालय के लिए स्वीकार कर लिया। इस ग्रन्थ का अधिकतम पठन-पाठन बढ़ाने के लिए उसने सुप्रसिद्ध वैयाकरण कायस्थ कक्कल को अनहिलवाड़ में निमन्त्रित किया और इसको पढ़ाने की आज्ञा दी। प्रत्येक ज्ञान की ज्ञान पञ्चमी को विद्यार्थियों की परीक्षा ली जाती और जो छात्र उत्तीर्ण होते उन्हें

राज्य की ओर से एक दुशाला, एक स्वर्ण आभूषण और एक पालकी या छत्र भेंट दिया जाता।

मेरुतुंग का वर्णन, जिसे जिनमण्डन ने प्रायः अक्षरशः ले लिया है, अपेक्षाकृत बहुत छोटा है और वह बिलकुल दूसरी तरह दिया गया है। जब विजय-प्रवेश के अवसर पर रचे प्रशंसात्मक श्लोक की राजा जयसिंह ने प्रशंसा की तो, **प्रबन्धचिन्तामणि-कार**[३२] कहता है कि, कुछ ईर्षालु ब्राह्मणों ने कटाक्ष किया कि "जैन साधू ने हमारे ही शास्त्रों से यह बुद्धिमानी प्राप्त की है।" राजा ने तब हेमचन्द्र से प्रश्न किया, "क्या यह सत्य है?" हेमचन्द्र ने उत्तर मे कहा, "हम उस जैन व्याकरण का अभ्यास करते हैं जिसका महावीर भगवान ने अपने बचपन में ही इन्द्र को उपदेश दिया था।" ईर्षालू ब्राह्मणों ने तत्काल कहा, "यह तो सुदूर प्राचीन समय की किंवदन्ती है। अच्छा हो कि हेमचन्द्र इधर के समय के किसी जैन वैयाकरण का नाम बतायें।" तब हेमचन्द्र ने कुछ ही दिनों में एक नया व्याकरण स्वयम् लिख देने को कहा, यदि महामहिम सिद्धराज उसकी सहायता करें। राजा सहमत हो गये और फिर दरबार उठ गया। विजय-प्रवेश का उत्सव समाप्त होने पर राजा जयसिंह को व्याकरण सम्बन्धी इस बार्ता का स्मरण कराया गया और तब उसने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अनेक देशों से सभी वर्तमान व्याकरण की पोथियाँ मंगवाने का आदेश दिया और भिन्न-भिन्न व्याकरणों मे निष्णात पण्डितों को भी निमन्त्रित किया। तब हेमचन्द्र ने एक वर्ष में ३२ अक्षरों के १,२५,००० श्लोकों में पाँच भाग मे व्याकरण पूरा किया। जब यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हो गया तो महल मे राजसी ठाठ-बाठ से राजहस्ति पर यह लाया गया और राज-भण्डार मे प्रतिष्ठापित किया गया। उस समय से सभी अन्य व्याकरण उपेक्षित हो गये और सिद्धहेमचन्द्र का ही सर्वत्र अध्ययन किया जाने लगा। इससे हेमचन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी बड़े हतोत्साहित हुए। एक ने तो राजा से यह चुगली की कि उस व्याकरण मे चौलुक्य वश की बिभूति मे एक भी श्लोक नहीं है। हेमचन्द्र को इस अपवाद का संकेत मिल गया और यह भी कि राजा जयसिंह इस भूल के कारण उससे अप्रसन्न हैं। तुरत ही उन्होंने ३२ श्लोक चौलुक्यों की प्रशंसा मे रचे और दूसरे ही प्रातः-काल जब कि राजमहल मे उनका व्याकरण पढ़ कर सुनाया जा रहा था,

वह प्रशस्ति भी सुना दी गयी। राजा इससे संतुष्ट हो गया और उसने आज्ञा प्रसारित की कि इस व्याकरण के अध्ययन का प्रचार किया जाये।

प्रथम दृष्टि में तो ये दोनों ही कथाएँ सभी बातों में विश्वसनीय प्रतीत नहीं होतीं। परन्तु चूँकि हेमचन्द्र का यह व्याकरण सर्वांग सम्पूर्ण सुरक्षित है और उसके आधार पर बने कई अन्य ग्रन्थ भी इन दिनों खोज निकाले गये है, उक्त किंवदन्ती की परीक्षा-समीक्षा संभव हो गई है। यह भी कहा जा सकता है कि उनमें से अधिकांश और विशेषतया वह अंश जो **प्रभावकचरित्र** में है, बिलकुल ठीक है। इस वर्ग में सबसे प्रथम कथनीय है व्याकरण का समय, उसका विस्तार, उसका गठन, उसकी पद्धति और उसकी रचना के कारण। यह सत्य है कि सिद्धहेमचन्द्र में आठ अध्याय और ३२ पाद हैं और पादों की वृत्ति के अन्त में एक श्लोक सात चौलुक्य राजाओं में से एक की प्रशंसा में है और सबके अन्त में चार श्लोक हैं।[33] मूल प्रतियों में भी **सिद्ध-हेमचन्द्र** पाँच भागों वाला ग्रन्थ कहा जाता है और सूत्रों के अतिरिक्त उणादि-प्रत्ययों, गणों, मूल धातु एवम् संज्ञाओं के लिंगादि के भी पृथक्-पृथक् विभाग हैं। फिर ग्रन्थकार हेमचन्द्र ने ही उसके सभी भागों पर दो भागों में टीका की है[34]। इस टीका की रचना भी, जयसिंह की विजयों के उल्लेख और प्रशस्ति को देखते हुए, कहा जा सकता है कि उसके राज्य काल में ही हुई थी। फिर यह जयसिंह सिद्धराज को समर्पित ही नहीं की गयी है, अपितु, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, उसकी आज्ञा या प्रार्थना पर ही उसका निर्माण हुआ था। **प्रभावकचरित्र** की तरह ही, प्रशस्ति के ३५ वें श्लोक मे कहा गया है कि सिद्धराज ने पुरातन व्याकरणों से असंतुष्ट हो कर ही हेमचन्द्र को नवीन व्याकरण रचने की प्रार्थना की और आचार्य ने उसकी 'नियमानुसार' ही रचना की। **प्रभावकचरित्र** के इस अन्य विवरण का, कि मालवा से प्राप्त ग्रन्थ को देख कर ही राजा ने ऐसी आज्ञा दी थी, किसी अन्य प्रबन्ध ग्रन्थ से कोई भी समर्थन नहीं मिलता। फिर भी यह कथन, अपनी ही विशेषता के कारण, किसी भी प्रकार दुर्घट प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जब जयसिंह अपने राज्य-काल को साहित्यिक ग्रन्थों द्वारा चिरस्मरणीय करने की इच्छा रखता था, तो यह बिलकुल ही स्वाभाविक है कि भोज के ग्रन्थों के अनुशीलन ने इसकी ईर्षा को प्रज्वलित कर

दिया हो और तब अपने साम्राज्य के विद्वानों को उसी प्रकार के ग्रन्थ लिखने को आह्वान करने को यह प्रेरित हुआ हो। किंवदन्ती के अनुसार **सिद्धहेमचन्द्र** पूर्व व्याकरणों के आधार पर रचित है। विशेषतया वह शाकटायन और कातंत्र व्याकरणों पर आधारित है, जैसा कि केलहार्न ने सिद्ध कर दिखाया है। अपनी टीका में हेमचन्द्र ने अन्य वैयाकरणों, विशेष व्यक्तियों आदि-आदि के मतों को **'इति मन्ये इति केचित्'** यानी अन्य ऐसा मानते हैं, अन्य ऐसा कहते है, कहते हुए दिया है और केलहार्न इस टीका के शब्द-कोश से, जिसकी कि प्रति दुर्भाग्य से उन्हें अपूर्ण ही मिली थी, यह पता लगा सके कि पहले पाँच पाद में कम से कम १५ भिन्न-भिन्न व्याकरण ग्रन्थों का सहारा लिया गया है[३५]। सम्पूर्ण ग्रन्थ को रचना में सहायकों की इसलिए निःसंदेह हो कहीं अधिक संख्या है। इन बातों से यह पूर्ण विश्वसनीय प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने ग्रन्थ लिखने के पूर्व उसका मसाला अनेक स्थानों से एकत्र किया था और उसके आश्रयदाता ने भी इस काम में उसकी सहायता की थी। आज भी भारतीय राजा गण अपने राजपण्डितों के लिए प्रायः हस्तलिखित और मुद्रित पुस्तकें प्राप्त कर देते हैं और बहुधा दूर देशों से मंगाने का अत्यधिक व्यय उठा कर भी वे ऐसा करते हैं। परन्तु जब **प्रभावकचरित्र** यह कहता है कि सब प्राचीन पोथियां काश्मीर के सरस्वती मंदिर के पुस्तक भण्डार से ही प्राप्त की गई थीं तो यह प्रबंधकार की शारदा के स्थान की साहित्यिक महानता के प्रति असीम श्रद्धा से प्रसूत अतिशयोक्ति ही होनी चाहिए। मेरुतुंग का यह कथन कि राजा ने अनेक देशों से व्याकरण ग्रन्थ मंगवा दिये थे, बहुत सभव लगता है। अन्त मे दोनों ही मूल ग्रन्थों के इस विवरण को कि जयसिंह ने इस नव व्याकरण के प्रसार और प्रचार को उत्साहित किया, उसकी प्रतिलिपियां सब ओर वितरण की एवम् उसे सिखाने के लिए एक अध्यापक विशेष भी नियुक्त किया था, अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। यदि कवि वाक्पति द्वारा वर्णित अपने गुरु उग्रभूति रचित **शिष्यहिता** नामक ग्रन्थ के प्रसार के लिए राजा आनन्दपाल द्वारा किये गये प्रयत्न निःसंदेह ऐतिहासिक हैं,[३६] तो अन्य राजाओं की आज्ञा से लिखे गये अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में लिखी गई ऐसी बातें अवश्य ही पूर्ण विचारणीय हैं। **सिद्धहेमचन्द्र** के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है

कि वैयाकरण **कक्कल** जिसे **प्रभावकचरित्र** में इस व्याकरण का प्रचारक **और** शिक्षक कहा गया है, एक **ऐतिहासिक व्यक्ति** ही नहीं है, अपितु उसके *व्याख्याता के रूप में भी उसने निःसंदेह बहुत कुछ किया था।* केलहार्न द्वारा उपयोग की गई इस व्याकरण **की टीका के** न्यास [संक्षिप्त सार] की प्रति में कक्कल का मत उल्लिखित है। फिर देवसूरि के शिष्य गुणचन्द्र ने कक्कल नाम के आचार्य की एक साहित्यिक, कवि **और** वैयाकरण के रूप में प्रशंसा की है और कहा है कि कक्कल के आदेश से ही मैंने **तत्त्वप्रकाशिका** या **हैमविभ्रम** सिद्धहेमचन्द्र की व्याख्या के लिए निबन्ध लिखा था[३७]। **काकल, कक्कल** और **कक्कल्ल** ये तीन प्राकृत रूप कुछ विभिन्न यतियों से संभव या सिद्ध होते हैं और ये सब संस्कृत नाम **कर्क** के क्षुद्र तावाचक पद हैं। ये सब एक व्यक्ति के ही द्योतक हैं। गुणचन्द्र के आध्यात्मिक गुरु देवसूरि कदाचित् वही पूर्ववर्णित सुप्रख्यात जैनाचार्य हैं जिन्होंने वि. सं. ११८१ में दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र से शास्त्रार्थ किया था **और** जिनका स्वर्गवास वि. सं. १२२६ में हुआ। यदि कोई इससे सहमत हो तो *गुणचन्द्र का विवरण भी* **प्रभावकचरित्र** के *वर्णन का समर्थन करता* ही प्रतीत होगा। दूसरी बात कि हेमचन्द्र ने अपना यह व्याकरण कब पूर्ण किया था, इस संबंध मे प्रबन्धों के वर्णन में संशोधन की जरूरत है। **प्रभावकचरित्र** में इस विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। उसमें इतना ही लिखा मिलता है कि व्याकरण बहुत थोड़े समय में ही लिख दिया गया था। दूसरी ओर मेरुतुंग जोर के साथ यह कहता है कि वह एक वर्ष में ही लिख दिया गया था। यह **बिलकुल असंभव बात है।** फिर प्रशस्ति के २३ वें श्लोक की बात से इसका विरोध होता है। उसमें हेमचन्द्र ने कहा है कि जयसिंह ने यात्रा का उत्सव किया था [यात्रानन्दः कृतः]। **द्व्याश्रयकाव्य** में राजा के देवपट्टन और गिरनार की एक ही यात्रा पर जाने का कहा गया है कि जो उसके राज्य के अन्तिम वर्ष में की गई थी [देखो टिप्पण २८]। इसलिए उक्त प्रशस्ति इस यात्रा के पश्चात् ही लिखी गई होनी चाहिए और चूंकि वह ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखी जा सकती है, व्याकरण भी इस यात्रा के पश्चात् ही समाप्त हुआ माना जाना चाहिए। मालवा की विजय से लौटने और यात्रा की समाप्ति तक **द्व्याश्रयकाव्य के वर्णनों के अनुसार** दो या तीन वर्ष का समय

तो बीत ही जाना चाहिए। मालवा विजय से वि. सं. ११९४ में लौटना हुआ था। इसलिए उक्त विचार-सरणी के अनुसार व्याकरण जल्दी-से-जल्दी विक्रम संवत् ११९० के अन्त के लगभग समाप्त हो जाना ही संभव है।

अपने व्याकरण की सफलता ने हेमचन्द्र को अपना साहित्यिक कार्यक्षेत्र विस्तृत करने और अनेक संस्कृत शिक्षा पुस्तकें लिखने के लिए प्रेरित किया प्रतीत होता है, जो विद्यार्थियों को संस्कृत रचना और विशेषतया काव्य में शुद्ध और आलंकारिक भाषा के प्रयोग में पूर्ण निर्देशन करे। इसी प्रयत्न में अनेक संस्कृत कोश एवम् अलंकार व छंदशास्त्र और उनमें उल्लिखित सिद्धांतों के उदाहरणीकरण के लिए एक सुन्दर काव्य तक की रचना उनसे करवाई थी। और वह काव्य है **द्वयाश्रयमहाकाव्य** जिसमें चौलुक्य राजवंश का इतिहास संकलित है। इन ग्रन्थों की माला को **अभिधानचिंतामणि** या **नाममाला** नाम दिया गया। इनका अनुगामी फिर **अनेकार्थसंग्रह** शब्दकोश रखा गया। पहले में एकार्थवाची [होमेनिमिक] शब्द संग्रहीत किये गये हैं, तो दूसरे में पर्याय शब्द। फिर साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थ **अलंकारचूडामणि** और सबसे अन्त में **छन्दानुशासन** रचा गया। विभिन्न ग्रन्थों की रचना का यह कालक्रम उक्त ग्रन्थों के वर्णन से ही निश्चित किया गया है[३८]। पहले दो ग्रन्थों के सम्बन्ध में [देखो टिप्पण ३१ श्लोक ९८] **प्रभावकचरित्र** में लिखा है कि वे व्याकरण के साथ-साथ ही समाप्त हुए थे। परंतु ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता। क्योंकि व्याकरण, उनके परिशिष्ट और उसकी टीका की रचना इस थोड़े से काल के लिए बहुत ही बड़ा काम था, चाहे हेमचन्द्र ने जैसा कि भारतवर्ष में साधारणतया प्रायः होता है, अपने शिष्यों से भी इनकी रचना में सहायता ली हो और बहुत पहले से इनकी रूपरेखा और कुछ-कुछ सामग्री भी तयार करके रखी हो। यह सत्य है कि, जैसा मेरुतुंग विश्वास दिलाता है, व्याकरण में सवा लाख श्लोक नहीं हैं। परंतु टीका और परिशिष्टों को मिलाकर, जिन पर कि टीकाएँ बनी हुई हैं, २०००० से ३०००० श्लोक होते ही हैं। यह कहना कदाचित् ठीक है कि दोनों ही कोश जयसिंह की मृत्यु के पहले समाप्त हो चुके थे। इन दोनों में न तो कोई समर्पण है और न अन्य ऐसी सूचना जिससे कि यह कहा जा सके कि ये भी राजा के आदेश से रचे गये थे। परंतु यह कोई

उपर्युक्त अनुमान में बाधा उपस्थित करने वाली बात नहीं है। हेमचन्द्र ने इनको अपने व्याकरण का संपूरक ही माना था। **अलंकारचूडामणि** [देखो टिप्पण ३८] में इनके उल्लेख का अभाव भी यही सिद्ध करता है। इसीलिए कदाचित् हेमचन्द्र ने अपने आश्रयदाता के नाम तक का उल्लेख इनमें आवश्यक नहीं समझा हो। व्याकरण को किंवदन्ती के अन्त में मेरुतुंग के दिए एक छोटे से टिप्पण के[39] अनुसार, **द्व्याश्रयकाव्य** भी इसी समय की रचना है। कहा जाता है कि सिद्धराज की सृष्टि-विजय को प्रसिद्ध व चिर स्मरणीय करने के लिए व्याकरण के पश्चात् ही यह लिखा गया। परंतु इसे बिलकुल यथार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस काव्य के अन्तिम पांच सर्गों में (१६ से २० तक) राजा कुमारपाल का ही चरित्र अधिकांश में वर्णित है, जो कि सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी था। इसके अन्त में लिखा है कि कुमारपाल जीवित है और अपनी राजसत्ता के उच्चतम शिखर पर है। जिस रूप में आज यह काव्य प्राप्त है वैसा वि सं. १२२० में यह सम्पूर्ण नहीं हो सकता था क्योंकि हेमचन्द्र ने अपने जीवन काल के अन्तिम वर्ष में एक दूसरे ही ग्रन्थ के संशोधन में हाथ लगाया था, जैसा कि आगे बताया जाएगा, यह बहुत संभव है कि **द्व्याश्रय-महाकाव्य** की रचना जयसिंह की इच्छा देखकर प्रारम्भ की गई थी और उस राजा के कार्यकलापों के वर्णन तक ही अर्थात् चौदहवें सर्ग तक रची गयी थी। इसके समर्थन में **रत्नमाला** के लेखक का[40] यह कथन प्रस्तुत किया जा सकता है कि जयसिंह ने आज्ञा दे कर अपने वंश का इतिहास लिखाया था। हेमचन्द्र के इस ग्रन्थ के सिवा चौलुक्य वंश के विस्तृत इतिहास का दूसरा ग्रन्थ अज्ञात है। जयसिंह के राज्य-काल में ही दोनों कोशों और इस काव्य के सम्पूर्ण या अंशतः लिखे जाने की फिर भी कुछ संभावना है, परन्तु **अलंकारचूडामणि** और **छंदानुशासन** के रचे जाने की सम्भावना तो बिलकुल ही नहीं है। ये कदाचित् कुमारपाल के राज्य-काल के प्रारम्भ में ही लिखे गये थे। इस मान्यता के कारण नीचे दिये जाते हैं।

व्याकरण की रचना के पीछे की हेमचन्द्र और जयसिंह के समागम की अनेक कथाएं प्रबन्धों में वर्णित हैं। उनमें से अधिकांश तो उनके ढंग के कारण

ही विशेष विचारणीय नहीं हैं। जो थोड़ी सी बच रहती हैं, वे प्रत्यक्षतः ऐतिहासिक प्रतीत होती हैं परन्तु सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् वे भी संदिग्ध मूल्य की ही ठहरती हैं। पहली कथा, जो कि **प्रभावकचरित्र** में है, वह हमें बताती है कि हेमचन्द्र के मुख्य शिष्य रामचन्द्र की दाहिनी आँख इसीलिए चली गई थी कि जयसिंह ने, जिसके समक्ष वह अपने गुरु द्वारा ही पेश किया गया था, उसे जैन सिद्धांत पर एक दृष्टि रखने का 'एक दृष्टिर्भव०' कहते हुए शिक्षा दी थी। पक्षान्तर में मेरुतुंग ने रामचन्द्र के एकाक्षी होने के ऐतिहासिक तथ्य का कुछ दूसरा ही कारण बताया है। उसके कथनानुसार यह दोष या न्यूनता उस अविचारित निन्दा का परिणाम थी, जो गुरु के चिता देने पर भी श्री रामचन्द्र ने श्रीपाल कवि रचित प्रशंसा काव्य की सहस्रलिंग सागर पर की थी[११]। **प्रभावकचरित्र** की दूसरी कथा हेमचन्द्र को विरोधी परिस्थितियों में से चतुराई से उबारने या मुक्त करने और ईर्षालु ब्राह्मणों के मुंह बन्द करने के संबंध में है। कथा इस प्रकार है। एक बार एक ब्राह्मण जैनों के चतुर्मुख मूर्ति के मन्दिर में नेमिनाथ का चरित्र सुन कर आया था, उसने जयसिंह राजा से शिकायत की कि मिथ्यात्वी लोग महाभारत की पूज्य परम्परा का सम्मान ही नहीं करते हैं, अपितु ऐसा भी कहते है कि पाण्डव जैनी थे। उसने यह भी कहा कि चाहे तो राजा इस की परीक्षा स्वयम् भी कर सकता है। अपना कुछ निर्णय सुनाने के पूर्व जयसिंह ने यह जानने के लिए कि उत्तरपक्ष इस सम्बन्ध में क्या कहता है, हेमचन्द्र को बुला भेजा, क्योंकि उसकी दृष्टि में जैनों में एक वे ही विद्वान और सत्य-प्रेमी थे। पूछे जाने पर कि क्या ब्राह्मण की शिकायत ठीक है, हेमचन्द्र ने स्वीकार किया कि जैनों के पवित्र आगमों में इस सिद्धांत का प्रतिपादन है। परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि यह तो महाभारत के उस श्लोक की बात है जिसमें १०० भीष्म, ३०० पाण्डव, १००० द्रोणाचार्य और अनेक कर्णों की कथा है। इसलिए यह भी बिलकुल संभव है कि इन तीनसौ पाण्डवों में से कोई जैन धर्मी भी हो गए हों। इनकी मूर्तियाँ शत्रुंजय, नासिक और केदार तीर्थों में देखी जा सकती है। ऐसे तर्क का उत्तर किस प्रकार दिया जाये यह वह ब्राह्मण नहीं जानता था। इसलिए राजा ने जैनों के विरुद्ध कोई भी कदम उठाने से इन्कार कर दिया[४४]।

तीन अन्य प्रबन्धों मे इस प्रकार की कोई भी कथा नहीं दी है। **कथाकोश** में अलबत्ता एक दूसरे ही रूप में यह कथा मिलती है। दूसरी ओर मेरुतुंग ने पुरोहित आमिग को हेमचन्द्र द्वारा दी गई फटकार वाली **प्रभावकचरित्र** की तीसरीकथा को कुछ भिन्न रूप में दिया है। आमिग ने लांछन लगाया था कि जैन साधु अपने उपाश्रयों में साध्वियों से मिलते हैं और यह साधु गण बहुत अच्छा, पौष्टिक आहार करते हैं। उसका यह कहना था कि ऐसे आचरण से ब्रह्मचर्य व्रत सहज ही भंग हो जाता है। इस पर हेमचन्द्र ने हंस कर यह कहते हुए उसे चुप कर दिया कि 'मांसाहारी सिंह के संयम की तुलना क्या तुच्छ अन्न कणों पर निर्वाह करने वाले कबूतर की काम-प्रवृत्तियों से हो सकती है?' यह प्रमाणित करता है कि आहार का प्रकार इस विषय में महत्वहीन है। मेरुतुंग का कहना है कि यह घटना कुमारपाल के समय की है[४३] और यह भी बहुत संभव है कि आमिग कुमारपाल का ही कर्मचारी रहा हो। **प्रभावकचरित्र** की चौथी कथा भागवत-ऋषि देवबोध सम्बन्धी है, जिसका कुछ समय तक अनहिलवाड़ में बड़ा प्रभाव था और जो राजा से एवम् राजकवि श्रीपाल से बड़ी उद्धतता से भी पेश आया था, हालाकि उसे भी राजा का उदारतापूर्ण आश्रय प्राप्त था। कुछ काल पश्चात् भागवतों के आचार विचार के विरुद्ध मद्यपों की गोष्ठी करने का अभियोगी होने की शंका इसके प्रति की जाने लगी। यद्यपि इसने इस अभियोग के सिद्ध किये जाने के रंच मात्र भी प्रमाण कभी उपलब्ध नहीं होने दिये, फिर भी उसकी उपेक्षा होने लगी यहाँ तक कि वह एकदम दरिद्र और कंगाल हो गया। अन्त मे हार कर वह हेमचन्द्र की शरण में आया और उनकी प्रतिष्ठा मे एक श्लोक रचकर उन्हें सुना दिया। इससे हेमचन्द्र को उस पर दया आ गई और तब उन्होंने राजा से उसे एक लाख का दान दिलवा दिया। इस दान से उसने अपना सब ऋण चुका दिया। फिर वह गंगा-तट पर चला गया और अपने अन्त की प्रतीक्षा करने लगा। यह कथा भी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। दूसरी ओर जिनमण्डन ने कुमारपाल के प्रतिबोध की कथा में देवबोध को हेमचन्द्र का प्रतिपक्षी, और विरोधी बताया है। ऐसा मालूम होता है कि राजशेखर ने (देखो टिप्पण ५) इसी बात पर यह कथा गढ़ दी है।[४४]

प्रभावकचरित्र की पांचवी और अन्तिम कथा में हेमचन्द्र की उस तीर्थ-यात्रा के अनुभवों का वर्णन किया गया है, जिसका जिक्र पहले किया जा चुका है

और जो जयसिंह ने अपने राज के अन्तिम वर्ष में सोमनाथ या देवपट्टन-आज कल के सौराष्ट्र के वोरावल की की थी। कहा जाता है कि जयसिंह निःसन्तान होने के कारण बड़े चिंतित थे। इसीलिए उन्होंने यह तीर्थयात्रा की थी। हेमचन्द्र भी साथ थे। पहले पहल वे शत्रुंजय गये जहाँ जयसिंह ने प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ को नमन किया और मंदिर को बारह गाँव भेंट चढ़ाये। शत्रुंजय से वह संकली, गिरनार के पास, गया और वहाँ श्री नेमिनाथ के उस मंदिर के दर्शन किये जो उसके अधिकारी सज्जन मेहता ने सौराष्ट्र की लगान की आय से बिना आज्ञा के बनाया था। इस मंदिर के बनाने का पुण्य उसे ही मिले इसलिए जयसिंह ने मंदिर पर खर्च हुए २७ लाख राज्यपाल सज्जन मेहता को माफ कर दिए। तदनन्तर वह हेमचन्द्र के साथ सोमेश्वर पट्टन गया और सोमनाथ महादेव का वंदन पूजन किया। हेमचन्द्र ने भी वहाँ शिव की परमात्मा कह कर स्तुति की। इस यात्रा का अन्तिम नगर था कोटिनगर, आज के सौराष्ट्र का कोडिनार, जहाँ अम्बिका देवी का मंदिर था। जयसिंह ने देवी की पुत्रप्राप्ति के लिए प्रार्थना मनौती की। हेमचन्द्र ने भी राजा की इस प्रार्थना में साथ दिया एवम् तीन दिन का उपवास भी किया। फलस्वरूप अम्बिका देवी प्रकट हुई और कहा कि जयसिंह के कोई पुत्र नहीं होगा और उसे अपना राज्य कुमारपाल को उत्तराधिकार रूप से छोड़ना होगा।[७५]

जिनमण्डन में भी यही कथा कुछ घटा-बढ़ा कर कही गई है। उसमें गिरनार की यात्रा, सज्जन द्वारा बनाये गये मंदिर की कथा, और हेमचन्द्र द्वारा शिव की प्रार्थना की बातें छोड़ दी गयी हैं। दूसरी ओर यह कहा गया है कि जयसिंह कोटिनगर अथवा कोटिनारी की यात्रा के बाद शिवजी से पुत्र-प्राप्ति की प्रार्थना करने के लिए सोमनाथपट्टन गया था। शिवजी ने राजा को साक्षात् दर्शन दिये, परन्तु पुत्र का वरदान देना अस्वीकार कर दिया।[७६] मेरुतुंग ने एकदम दूसरी ही कथा दी है। जयसिंह के तीर्थयात्रा पर जाने की बात उसे अच्छी तरह ज्ञात है। परन्तु हेमचन्द्र भी उसके साथ गये थे यह वह नहीं जानता। इसीलिए उसने यह अनुमान कर लिया है कि हेमचन्द्र ने शिव-स्तुति जो कि **प्रभावकचरित्र**कार ने उद्धृत की है, सोमनाथ की उस यात्रा में रची थी जो उसने बहुत पीछे कुमारपाल के साथ की थी। उसके अनुसार यात्रापथ भी बिलकुल भिन्न था। राजा सबसे पहले सोमनाथ पट्टन गया था। लौटते

हुए उसने गिरनार की तलहटी मे पड़ाव डाला। पर वह गिरनार पहाड़ पर नही चढ़ा। क्योंकि ईर्ष्यालु ब्राह्मणों ने कह दिया था कि गिरनार का पहाड़ सागर के बीच खड़ा शिव लिंग-सा दीखता है। अतएव उसे पैरों से नहीं रौंदना चाहिये। मेरुतुंग आगे कहता है कि जयसिंह गिरनार से शत्रुंजय की ओर गया और वहाँ के मंदिरों के ब्राह्मणों के विरोध करते हुए भी रात्रि में वेश बदल कर उसने दर्शन किये थे। इन मंदिरों को बारह गाव भेंट करने की बात मेरुतुंग ने भी लिखी है। इसी तरह वह सज्जन मेहता सम्बन्धी कथा या किंवदन्ती से परिचित तो मालूम होता है, परन्तु उसका जिक्र वह तीर्थयात्रा के वर्णन के साथ नहीं करता।[४७] वह कोटिनगर की यात्रा की भी नहीं कहता। अब यदि हेमचन्द्र के अपने **द्व्याश्रयकाव्य** मे दिये जयसिंह की तीर्थयात्रा के वर्णन से इनकी तुलना की जाय तो **प्रभावकचरित्र** का वर्णन निःसदेह असत्य लगता है और मेरुतुंग के वर्णन में भी कुछ भ्रांति दीख पड़ती है। **द्व्याश्रयकाव्य** और **प्रभावकचरित्र** के वर्णन मे यह अन्तर है कि तीर्थयात्रा मे हेमचन्द्र के साथ जाने की बात मे वह मौन है, उसमे यात्रा मार्ग भी दूसरा है, हालांकि मेरुतुंग के मार्ग से वह मिलता है। उसमें कोटिनगर की यात्रा का और अम्बिका के भविष्य कथन का भी कोई उल्लेख नहीं है। दूसरी ओर यह मान लिया गया है कि सोमनाथ पट्टन में शिव ने जयसिंह को साक्षात् हो कर कुमारपाल के भाग्य की बात कही थी। मेरुतुंग के वर्णन के विरुद्ध **द्व्याश्रय** यह समर्थन करता है कि जयसिंह गिरनार पहाड़ पर चढ़े थे और वहाँ नेमिनाथ का पूजन किया था। अन्त में **द्व्याश्रय, प्रभावकचरित्र** और **मेरुतुंग** दोनों ही की बात यह कह कर काट देता है कि गिरनार से जयसिंह शत्रुंजय नहीं गये अपितु सीधे सिंहपुर या सीहोर की ओर प्रयाण कर गये और प्रथम तीर्थंकर के मंदिर में गाव भेंट चढ़ाने की बात भी उसमे नहीं कही गई है। अपने धर्म के प्रति बताई हुई अन्य सभी कृपाओं का हेमचन्द्र ने **द्व्याश्रय** में वर्णन पूर्ण सावधानी से किया है, तो गांवों की भेंट के सम्बन्ध मे उनका मौन विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करता है।[४८]

प्रभावकचरित्र में वर्णित इन कथानकों में मेरुतुंग तीन दूसरे कथानक और जोड़ देता है, जिनमें से एक का वर्णन जिनमण्डन ने भी किया है। पहले

दो कथानकों का ध्येय हेमचन्द्र की विद्वत्ता का प्रदर्शन है। ऐसा कहा गया है कि हेमचन्द्र ही डाहल के राजा द्वारा प्रेषित संस्कृत श्लोक की व्याख्या कर सके थे और उन्होंने ही एक दूसरे अवसर पर उस प्राकृत दोढक का उत्तरार्द्ध एकदम रच दिया था जिसका पूर्वार्द्ध जयसिंह के दरबारी विद्वन्मण्डल को समस्या पूर्ति के लिए सपादलक्ष के राजा ने भेजा था। वह संस्कृत श्लोक 'हार' शब्द सम्बन्धी प्रख्यात अनुप्रास का है। यह तो उन लोकप्रिय श्लोकों में से है जिसके द्वारा पण्डितगण अपनी विद्वत्सभाओं में परस्पर मनोरंजन करते हैं और वह इतना सरल भी है कि उसके हल में विशेष पाण्डित्य की कोई आवश्यकता नहीं होती।[८९]

तीसरी कथा तो बिलकुल ही निराली है। मेरुतुंग कहता है कि एक बार सिद्धराज ने जो मुक्ति का सच्चा मार्ग खोज रहा था, सभी राष्ट्रों के सभी धर्मसम्प्रदायों से इस शंका के समाधान की आज्ञा दी। परन्तु परिणाम से वह संतुष्ट नहीं हुआ। प्रत्येक ने अपने-अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरे धर्मों की निंदा की। संशय के हिंडोले में बैठा हुआ जयसिंह अन्त में हेमचन्द्र के अभिमुख यह जानने के लिए हुआ कि ऐसी परिस्थितियों में उचित रुख क्या रखना चाहिए। हेमचन्द्र ने सभी पुराणों में समान रूप से पाये जाने वाले दृष्टान्त द्वारा अपना मत इस प्रकार कह सुनाया। उन्होंने कहा कि अति प्राचीन काल में एक सेठ था, जिसने अपनी स्त्री की उपेक्षा कर अपना सब धन-माल एक गणिका-वेश्या को दे दिया था। उसकी स्त्री ने पति का प्रेम फिर से प्राप्त करने के लिए सभी कुछ किया। वशीकरण मंत्र, जड़ी-बूटी आदि की भी इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्थान-स्थान पर खोजबीन की। उसको एक गौड़ मिला जिसने उसके पति की लगाम उसके हाथ में फिर से पकड़ा देने के लिए कुछ जड़ी-बूटियां उसके भोजन में मिलाकर खिला देने के लिए दीं। कुछ दिनों बाद उस स्त्री ने तदनुसार प्रयत्न किया तो फलस्वरूप उसका पति एक बैल में बदल गया। तब सारा संसार उसकी निंदा, अवहेलना करने लगा। इससे वह बहुत ही निराश हो गई, क्योंकि जादू टोना हटा कर उस बैलरूप पति को मनुष्य बनाना वह नहीं जानती थी। एक बार वह अपने इस बैलरूप पति को चराने के लिए जंगल में ले गई और एक वृक्ष की छाया में बैठी हुई जब वह अपने इस दुर्भाग्य पर

रो रही थी, तभी उसे शिवपार्वती में हो रही यह बात सुनाई पड़ी, जो विमान द्वारा उधर से उड़ते हुए कहीं जा रहे थे। पार्वती ने ग्वालिन के दुःख का कारण पूछा तो शिव ने सब कुछ स्पष्ट कह दिया। उन्होंने यह भी कहा कि इसी वृक्ष की जड़ में एक ऐसी जड़ी उगी हुई है जिसमें बैल को फिर से मनुष्य बना देने की शक्ति है। परन्तु वह जड़ी कैसी है इसकी पहचान नहीं बताई गई थी। इसलिए सेठानी ने जो भी घास-पात, जड़ी-बूटी उस वृक्ष के नीचे उगी हुई थी सबकी सब उखाड़ कर बैलरूप अपने पति के सामने खाने को रख दी। उन्हें खाकर वह फिर से मनुष्य बन गया। हेमचन्द्र कहने लगे कि जैसे अज्ञात बेलबूटी निवारक गुणवाली सिद्ध हुई, वैसे ही सभी धर्मों के प्रति परम निष्ठा से जीव को मोक्ष संभव है, हालाँकि कोई भले ही यह नहीं समझे कि उनमें से कौन धर्म इस परम श्रद्धा का पात्र है। उस समय से राजा सभी धर्मों के प्रति श्रद्धावान हो गया।[५०] जिनमण्डन[५१] ने बिलकुल दूसरी ही बात कही है और उसकी लेखनशैली भी अधिक अच्छी है। उसने इसके साथ दो और कथानक जोड़ दिये हैं। एक में इसी सम्बन्ध में हुई दूसरी बातचीत की कथा कही गयी है जिसमें हेमचन्द्र ने राजा को सामान्य गुणों या धर्मों, जैसे कि योग्य व्यक्तियों के प्रति उदार भाव, पूज्यों के प्रति योग्य सम्मान, सब जीवों के प्रति अनुकम्पा और दया आदि, का उपदेश दिया है और महाभारत के शब्दों में ही कहा है कि जो अपने आचरण में पूर्ण पवित्र हैं, न कि वे जो कि विद्वान् हैं या स्वपीड़क हैं, वे ही यथार्थ धर्मात्मा हैं। एक दूसरे कथानक के अनुसार हेमचन्द्र ने राजा को जब कि उसने एक शिव का और दूसरा महावीर का मंदिर सिद्धपुर में बनवाया, यह बताया है कि भगवान् महावीर शिव से महान् थे क्योंकि शिव के ललाट या भाल पर यद्यपि चन्द्रमा है परन्तु महावीर के चरण तल में नवों ग्रह ही देखे जा सकते हैं। जो लोग वास्तुविद्या के निष्णात थे, उन्होंने इसका समर्थन किया और बताया कि वास्तुशास्त्र के विधिविधानानुसार जैनों के मन्दिर ब्राह्मण देवताओं के मंदिरों से अन्य बातों में भी समादरणीय हैं। इसके बाद सिद्धराज ने संशय के अंधकार को दूर फेंक दिया था, यह कह कर कथा समाप्त कर दी गई है।[५२]

इन कथानकों में से कुछ तो पहले पहल पौराणिक या काल्पनिक दीखती हैं और शेष-अधिकांश के विषय में भी प्रबन्धों में परस्पर विरोध है। इसलिए

इनमें से किसी को भी यथार्थ में ऐतिहासिक मान लेना हिमाकत से भी अधिक ही होगा। दूसरी ओर यह भी बिलकुल असंभव नहीं है कि ये कथानक स्थूल रूप से उस पद्धति और प्रथा को ठीक ठीक ही बताते हैं, जैसे कि हेमचन्द्र राजा के साथ व्यवहार करते थे। हेमचन्द्र ने राजा के जीवन के अन्तिम वर्षों में राजसभा में प्रवेश किया था, यह भी बहुत संभव दीखता है। उन्होंने अपने पाण्डित्य और वाक्चातुर्य से निःसंदेह चमकने का प्रयत्न किया होगा और अपने धर्म अथवा अब्राह्मण संप्रदायों व धर्मों के अधिकार साम्य के पक्ष में वृद्धि करने का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं दिया होगा। ऐसा करते हुए, वे ब्राह्मण धर्म से मिलती हुई जैन सिद्धान्त की बातों पर अधिक महत्त्व देना भी नहीं भूले होंगे। यह आगे कहा जायेगा कि एक कुशल धर्माचार्य की भांति वे अपनी कृतियों [रचनाओं] में भी ऐसी मिलती-जुलती बातों का प्रयोग करने में नहीं चूके और लोकप्रिय ब्राह्मण धर्मग्रन्थों से अपने अनुकूल अवतरणों की वे सहायता लेते थे। अन्त में ईर्ष्यालु ब्राह्मणों के आक्रमण से स्वधर्मियों की व स्वयं की रक्षा करने के उन्हें पर्याप्त अवसर प्राप्त थे और उन्होंने नेमिनाथ चरित्र के रक्षणार्थ जैसी बात कही थी, वह अविश्वसनीय नहीं थी। ऐसी चालें बिलकुल ही भारतीय हैं और जैनों मे इनका प्रचार बहुतायत से पाया भी जाता है। अभी तक पूर्ण निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि जयसिंह पर हेमचन्द्र का प्रभाव अपने ही धर्म के लिए कितना था? इस सम्बन्ध मे **द्वयाश्रयकाव्य** मे हेमचन्द्र के ही प्रयुक्त शब्दों पर कुछ अंश मे अवश्य ही विश्वास किया जा सकता है जहां यह कहा गया है कि जयसिंह ने सिद्धपुर मे महावीर का मन्दिर निर्माण कराया और गिरनार पहाड़ पर नेमिनाथ के दर्शन किये। क्योंकि आज के और प्राचीन काल के भारतीय राजाओं के ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जो धार्मिक विचारों में कट्टर नहीं, उदार ही थे, और अपने से अन्य धर्मों देवताओं को भी बहुत भेंट-पूजा चढाते थे। यही क्यों, उन्होंने अपने चिरवांछित फल की प्राप्ति के लिए उनकी पूजा तक भी की, जैसे कि जयसिंह ने की थी। परन्तु क्या जयसिंह की जैन धर्म की ओर प्रवृत्ति या उसका पक्षपात हेमचन्द्र के प्रयासों के कारण ही था? आधुनिकतम शोध-खोज से यह बहुत ही असंभव मालूम होता है,

क्योंकि उनसे पता लगता है कि जयसिंह के दरबार में और भी जैन साधुओं की पहुँच थी और वे भी अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते थे। उन्हीं में से एक दूसरे हेमचन्द्र थे जो मलधारी कहे जाते थे। रचनाओं के आधार पर वे व्याकरणकार हेमचन्द्र से १० से २० वर्ष बड़े थे। तेरहवीं सदी के एक ग्रन्थ में कहा गया है कि जयसिंह ने उनका वाक्यामृत पिया था। सन् १४०० ई० के लगभग रचित एक प्रशस्ति मे ऐसा भी कहा गया है कि उन्होंने जयसिंह को जैनी बनाया था और अपने साम्राज्य के ही नहीं अपितु विदेशों के जिन मंदिरों को भी स्वर्ण कलश और ध्वजादण्ड भेंट कराए और प्रति वर्ष ८० दिन तक पशुवध नहीं किये जाने का फरमान जारी कराया था। बाद के इन विवरणों पर यदि विश्वास किया जाये तो व्याकरणकार हेमचन्द्र के कारनामे बहुत संदेहात्मक हो जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्य वश उक्त प्रशस्तिकार, जो प्रबन्धकोशकार राजशेखर ही है, वर्णित घटनाओं से इतने दूर यानि पीछे हुए थे कि हम उसका विश्वास बिना ननुनच के शायद ही कर सकें। वयोवृद्ध हेमचन्द्र के अतिरिक्त समुद्रघोष नाम के यति ने भी गुर्जर के मुख्य नगर में सिद्धपति की अभ्यर्थना की, ऐसा भी कहा जाता है[५४]। कुछ भी हो, ये वर्णन इतना तो सिद्ध करते ही हैं कि व्याकरणकार हेमचन्द्र ही जयसिंह के सम्माननीय जैनाचार्य, जैसा कि प्रभावक-चरित्रकार, मेरुतुंग और जिनमण्डनने मान लिया है, नहीं थे। वे उनके नायक थे और कुमारपाल के दरबार में उनके प्रखर तेज से वे सब चौंधिया गए थे। इन कारणों से जयसिंह और हेमचन्द्र सम्बन्धी उनका वर्णन स्वभावतः ही प्रभावित है।

अध्याय चौथा

हेमचन्द्र और कुमारपाल को प्रथम मिलन संबंधी कथानक

जयसिंह के दरबार में धर्मप्रचारक के रूप में हेमचन्द्र की सफलता विषयक चाहे जितने मत हों, इतना निश्चित है कि उनके धार्मिक उत्साह और प्रभावशाली वक्तृत्व ने ही उत्तराधिकारी चौलुक्य राजा कुमारपाल को जैन धर्मी बनाया था। जयसिंह, पुत्र प्राप्ति की इच्छा को लिये हुए ही वि. स. ११९९ में मर गया। कुछ काल की अराजकता के पश्चात् जयसिंह का पौत्र कुमारपाल गुजरात के राजसिंहासन पर बैठा। इसमें उसके बहनोई दण्डनायक कृष्ण या कान्हड़ ने उसकी सहायता की और राजनीतिज्ञ महापुरुषों की पसदगी से वह सफल हुआ। कुमारपाल का प्रपितामह क्षेमराज भीम प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र था, जिसने, एक दन्तकथा के अनुसार, अपना राज्य-अधिकार राजीखुशी त्याग दिया था। दूसरी दन्तकथा के अनुसार उसके राज्याधिकार की इसलिए अवहेलना की गई थी कि इस की माता चकुला देवी एक गणिका थी जो भीम के रनिवास में थी। क्षेमराज का पुत्र देवप्रसाद राजा कर्ण का—भीम के पुत्र का—घनिष्ठ आत्मीय था और उससे उसे दधिस्थली आज की देथली, जो अनहिलवाड़ से बहुत दूर नहीं है, का राजपट्टा मिला था। कर्ण की मृत्यु पर उसने जयसिंह को अपना पुत्र त्रिभुवनपाल समर्पण कर दिया और अपने आपको कर्णदेव के साथ ही अग्नि में भस्म कर दिया। अपने पिता के अनुरूप ही त्रिभुवनपाल भी अपने वंश के स्वामी के प्रति पूर्ण निष्ठावान रहा। युद्ध में अपने शरीर से राजा की रक्षा करने के लिए वह सदा राजा के सामने ही रहता था। जयसिंह के राज्यकाल की समाप्ति के बहुत पूर्व ही कदाचित् वह मर गया होगा, क्योंकि उस राजा के अन्तिम वर्षों के विवरण में उसका कोई उल्लेख नहीं आया है। वृद्धावस्था तक जयसिंह पुत्रहीन ही रहा था। इस लिए कुमारपाल स्वभावतः राजगद्दी के अनुमानसिद्ध अधिकारी के रूप से सामने आ गया। जयसिंह को

यह विश्वास दिलाने को कि उसके पश्चात् अनहिलवाड़ की राजगद्दी का अधिकारी उसका पोता-भतीजा ही है, महादेव या अम्बिका की दिव्य वाणी या राज-ज्योतिषियों का भविष्य कथन जैसा कि द्व्याश्रय या प्रभावकचरित्र में वर्णित है, आवश्यक नहीं था। फिर भी यह विचार जयसिंह को बिलकुल रुचिकर नहीं था। वह कुमारपाल से बुरी तरह घृणा करता था और उसने उसे मरवा देने तक का भी प्रयत्न किया था। मेरुतुंग के कथनानुसार जयसिंह की इस घृणा का कारण था गणिका चकुलादेवी का कुमारपाल की मां होना। जिनमण्डन के अनुसार राजा यह आशा करता था कि यदि कुमारपाल मार्ग से सर्वथा दूर कर दिया जाएगा तो शिव भगवान् कदाचित उसे पुत्र दे दें। जब कुमारपाल को राजा के ऐसे विचार ज्ञात हुए तो वह देथली से निकल भागा और कितने ही वर्षों तक यायावर का जीवन शैव संन्यासी के वेश में बिताता रहा। पहले तो वह गुजरात में ही भटकता रहा था। परन्तु आगे चल कर जयसिंह के अत्याचारों ने, जो उसके प्रति दिन प्रति दिन बढ़ते ही जा रहे थे, उसको अपनी जन्मभूमि त्याग देने के लिए बाध्य कर दिया[**]। कुमारपाल के यायावर जीवन के अनेक रोमांचक वृत्त प्रबंधों में हैं और गुजरात एवम् विदेशों के अव्यवस्थित भ्रमण में इस अत्याचार पीड़ित राजकुमार की उसके महान् भविष्य के प्रोक्ता हेमचन्द्र ने कैसे-कैसे रक्षा की, इसके वर्णन करने में प्रबन्धकारों ने बहुत ही परिश्रम किया है। कुमारपाल के भविष्य में हेमचन्द्र का कितना हाथ था, इसका प्रभावक-चरित्र में यह विवरण दिया है। कहा जाता है कि जयसिंह को अपने गुप्तचरों द्वारा अनहिलवाड़ में आये हुए ३०० संन्यासियों के यूथ में कुमारपाल के होने का पता लग गया। उसको पकड़ पाने के लिए राजा ने उन सभी संन्यासियों को भोजन का निमन्त्रण दिया। उनके प्रति अपना मान दिखाने के व्याज से उसने सबके चरण प्रक्षालन भी स्वयं ही किये। ध्येय यह था कि इससे उसे पता लग जाये कि किसके चरण तलों में राज रेखाएं हैं। ज्यों ही उसने कुमार-पाल के चरण स्पर्श किये, उसे कमल, ध्वज, और छत्र रेखाएं उसके पदतल में दीख गईं। उसने अपने सेवकों को इशारा किया। कुमारपाल भी इशारे को समझ गया और शरण के लिए हेमचन्द्र के उपाश्रय में तुरत भाग गया। उसके पीछे-पीछे गुप्तचर भी वहाँ पहुँचे। हेमचन्द्र ने कुमारपाल को ताड़-

पत्रों से ढंक कर तुरत छुपा दिया। गुप्तचर आगे बढ़ गये। जब आसन्न संकट दूर हो गया, कुमारपाल वहाँ से भागा और एक अन्य शैवमती ब्राह्मण बोरी के साथ-साथ भ्रमण करता हुआ स्तम्भतीर्थ या खंभात के ग्राम पास पहुँच गया। वहाँ पहुँच कर उसने अपने साथी को उस श्री माली बनिये उदयन के पास नगर में भेजा, जिसने हेमचन्द्र के पिता को स्वानुकूल या मित्र बनाया था और उससे सहायता की याचना की थी। परन्तु राजा के वैरी से किसी भी प्रकार का सरोकार रखने से उसने इन्कार कर दिया या आना-कानी की। फिर रात्रि में भूख से आकुल व्याकुल कुमारपाल नगर में गया और उस उपाश्रय में पहुँच गया, जहाँ चतुर्मास व्यतीत करने के लिए हेमचन्द्र ठहरे हुए थे। हेमचन्द्र ने उसका हार्दिक यानि प्रेम से स्वागत किया। क्योंकि देखते ही उन्होंने उसके राजसी चिह्न पहचान लिये और जान लिया कि गुजरात का भावी राजा यही है। उन्होंने भविष्य बताया कि वह सातवें वर्ष में राजगद्दी पर बैठेगा और उदयन को उसे भोजन देने एवम् धन आदि से उसकी सहायता करने का आदेश दिया। इसके बाद कुमारपाल सात वर्ष तक विदेशों में कापालिक के वेश में अपनी स्त्री भूपालादेवी को साथ लिये घूमता रहा। वि. सं. ११९९ में जयसिंह मर गया। जब कुमारपाल को यह सूचना मिली तो वह राजगद्दी प्राप्त करने के लिए अनहिलवाड़ लौट आया। वहाँ पहुँचने पर श्रीमंत सांब (?) से, जिसकी कोई भी ख्याति नहीं थी, मिला। श्रीमंत सांब उसे हेमचन्द्र के पास विजय मुहूर्त निकलवाने के लिए ले गया, क्योंकि उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अब तक भी सन्देह होता था। उपाश्रय में घुस कर कुमारपाल उपाश्रय के पादपीठ पर जा बैठा और हेमचन्द्र के कथनानुसार उसने इस प्रकार आवश्यक संकेत की सूचना दे दी। दूसरे दिन कुमारपाल अपने बहनोई सामंत कृष्णदेव के साथ, जिसके पास १०,००० सेना थी, राजमहल में चला गया जहाँ वह राजा चुन लिया गया[५४]।

'**प्रभावकचरित्र** के कुमारपाल के भागने और यायावर जीवन व्यतीत करने के विवरण से मेरुतुंग का वर्णन बिलकुल मिलता है। छोटी-छोटी बातों में कुछ अन्तर अवश्य है जैसे कि हेमचन्द्र का नाम मेरुतुंग के वर्णन में एक बार ही आता है। अनहिलवाड़ में ताड़पत्रों के नीचे हेमचन्द्र ने कुमारपाल को छुपाया

था इस सम्बन्ध में मेरुतुंग चुप है। न उसने राजा चुने जाने के ठीक पूर्व कही गई भविष्यवाणी की ही बात कही है। स्तम्भतीर्थ में हेमचन्द्र से भेंट होने की बात भी कुछ हेर-फेर के साथ वह कहता है। अनहिलवाड़ से भाग कर कुमारपाल अनेक देश-विदेशों में भटकता हुआ खम्भात में उदयन के पास आर्थिक सहायता के लिए पहुँचा। कुमारपाल पहुँचा तब उदयन जैन उपाश्रय में था। इसलिए कुमारपाल भी वहाँ चला गया। वहाँ उसकी हेमचन्द्र से भेंट हुई जिन्होंने देखते ही भविष्यवाणी की कि वह सार्वभौम राजा होगा। जब कुमारपाल ने इस बात का विश्वास नहीं किया तो हेमचन्द्र ने यह भविष्य दो पत्रों पर लिखकर एक तो राजमन्त्री उदयन को दे दिया और दूसरा राजकुमार कुमारपाल को। उस पर कुमारपाल ने कहा कि "यदि यह सत्य सिद्ध हुआ तो आप ही [हेमचन्द्र] यथार्थ राजा होंगे, मैं तो आपकी चरणरज हो कर रहूँगा। हेमचन्द्र ने उत्तर दिया कि उन्हें राज्य-लक्ष्मी से कोई मतलब नहीं है, परन्तु कुमारपाल अपने शब्दों को न भूलें और समय पर जैन धर्म का आभार माना एवम् उसके श्रद्धावान बनें। इसके पश्चात् ही कुमारपाल का उदयन ने अपने घर पर भोजनादि से सत्कार किया एवम् उसके पर्यटन के खर्च के लिए धन की सहायता भी दी। इसके पश्चात् कुमारपाल मालवा की ओर चला गया जहाँ वह जयसिंह की मृत्यु होने तक रहा। जब जयसिंह मर गया, तब वह अनहिलवाड़ लौट आया और अपने बहनोई कान्हड़देवकी सहायता से राज्यसिंहासन प्राप्ति के लिए उसने अभियान किया। कान्हड़देव ने अपनी युद्ध सन्नद्ध सेना की सहायता से उसे राजमहल में पहुँचा दिया[५७]।

जिनमण्डन अपने वृत्तान्त में कुमारपाल और हेमचन्द्र की भेंट बहुत जल्दी करा देता है। वह लिखता है कि कुमारपाल अपने उत्पीड़न के पूर्व एक बार राजा का अभिनंदन करने के लिए दरबार में गया था। वहाँ उसने हेमचन्द्र को राजा के सामने बैठे देखा और थोड़ी ही देर बाद वह उनसे भेंट करने के लिए उनके उपाश्रय मे पहुँच गया। हेमचन्द्र ने वहाँ उसे उपदेश दिया और अन्त में उसे पराई स्त्री को बहन की तरह देखने का व्रत दिला दिया[५८]। कुमारपाल के भागने की जिनमण्डन की कथा में, जहां तक कि उसका हेमचन्द्र के साथ सम्बन्ध है, **प्रभावकचरित्र और प्रबन्धचिंतामणि** की कथाओं का मिश्रण मात्र है।

उसके अनुसार हेमचन्द्र इस भगोड़े राजकुमार से पहले पहल खंभात में ही मिलते हैं, जैसा कि मेरुतुंग ने कहा है। परन्तु उनकी यह भेंट खंभात के दरवाजे के बाहर के एक मन्दिर में अकस्मात हो होती है, जहां उदयन भी हेमचन्द्र को वंदन करने के लिए गया था। उदयन की उपस्थिति का उपयोग सारे पूर्व इतिहास के कथन में किया जाता है, जो हेमचन्द्र कुमारपाल से पूछे जाने पर उसे सुनाते हैं। इसके बाद हेमचन्द्र की भविष्यवाणी की बात आती है और तदनन्तर उदयन के घर में कुमारपाल के आतिथ्य सत्कार का वर्णन ठीक वैसा ही है, जैसा कि मेरुतुंग ने दिया है। पर यहां इतना अधिक और कहा गया है कि कुमारपाल अपने आतिथेय के यहां बहुत काल तक रहा था। कुमारपाल के खंभात में रहने की सूचना मिलते ही जयसिंह उसको पकड़ने के लिए सेना भेजता है जिससे त्राण पाने के लिए वह हेमचन्द्र के उपाश्रय में चला जाता है और वहाँ तलघर में रखे हुए पोथों के ढेर में अपने को छुपा लेता है। यह अन्तिम कथन कदाचित् उस कथा का ही नया संस्करण है ज कि प्रभावक-चरित्र में हेमचन्द्र की प्रथम बार सहायता किये जाने के सम्बन्ध में कही गई है। जिनमण्डन को कदाचित् ऐसा लगा कि हेमचन्द्र का अनहिलवाड़ में पहले और फिर कुछ ही समय बाद खम्भात में उपस्थित होना असम्भव घटनाएं हैं। इसलिए उनने कुमारपाल को ताड़पत्रों में छुपाकर हेमचन्द्र के यहां रक्षा किये जाने की बात को उसने बदल दिया है और उसे संभव बनाने के लिए यह जोड़ दिया है कि पोथियाँ भण्डार में थीं, जैसा कि सदा होता है। कुमारपाल के भ्रमण का इससे आगे का जिनमण्डन का विवरण दोनों ही ग्रन्थों के वर्णन से अधिक पूर्ण है। ऐसा जान पड़ता है कि यह अन्य आधारों से लिखा गया है। इस वर्णन में वह पहले कुमारपाल को वटपद्र-बड़ौदा की ओर भेजता है और फिर भरुकच्छ-भड़ोंच, वहाँ से कोल्हापुर, कल्याण, कांची और अन्य दक्षिण के नगरों में भ्रमण कराता हुआ अन्त में प्रतिष्ठान-पैठण होता हुआ मालवा पहुँचा देता है। इस विभाग का अधिकांश पद्य में है और वह पद्यमय कुमारपालचरित्रों में से किसी एक से चुरा कर लिया हुआ मालूम पड़ता है[५९]।

अध्याय पाँचवां

कुमारपाल के धर्म-परिवर्तन की कथाएँ

गुप्त रीति से भाग जाने वाले राजकुमार के रक्षक और उसकी भावी महानता के भविष्यवेत्ता हेमचन्द्र की इन कथाओं के पश्चात्, यह स्वाभाविक है कि, कुमारपाल के राज्यासीन होने के बाद ही दोनों के घनिष्ठ संबंध का वर्णन किया जाए। परंतु आधारभूत ग्रंथों में ऐसा नहीं हुआ है। दोनों ही प्राचीनतम कृतियाँ कहती हैं कि राजा और गुरु का घनिष्ठतम सम्पर्क और संबंध बहुत बाद में हुआ था और वह भी गुरु के पूर्व उपकारों के कारण नहीं, अपितु बिलकुल ही भिन्न परिस्थितियों के कारण। प्रभावकचरित्र में कहा गया है कि जब कुमारपाल का राज्याभिषेक हो गया, उसने राजपूताना के सपादलक्ष के उद्धत राजा अर्णोराज को नियंत्रण में लाने का निश्चय किया और इसलिए युद्ध की तैयारियाँ की जाने लगीं। अपने सब सामन्तों और सेनाओं सहित उसने युद्ध के लिए प्रस्थान किया। कुछ ही दिनों में वह अजयमेरु, आधुनिक अजमेर, पहुँच गया। वहाँ उसने घेरा डाल दिया। परन्तु बहुत प्रयत्न के बावजूद कुमारपाल उसे विजय नहीं कर सका। चतुर्मास याने वर्षा आरम्भ हो जाने पर वह अपना लक्ष्य सिद्ध किए बिना ही अनहिल्वाड़ लौट आया। शरद ऋतु के आरम्भ होते ही उसने फिर अभियान किया। परन्तु ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर अजमेर का पतन किये बिना ही वह फिर लौट आया। इस प्रकार अभियान करते हुए उसने ग्यारह वर्ष बिता दिये। एक दिन उसने उदयन के पुत्र और अपने अमात्य वाग्भट्ट से पूछा कि क्या कोई देव, यक्ष या असुर ऐसा नहीं है जो उसे विजय दिलवा दे। वाग्भट्ट ने उसे अजितनाथ स्वामी का पूजन करने की सलाह दी जिनकी प्रतिमा अनहिल्वाड़ में थी और जिसकी स्थापना हेमचन्द्र द्वारा हुई थी। कुमारपाल सहमत हो गया और जैन धर्मानुसार अजितनाथ स्वामी का बहु द्रव्यादि से उसने पूजन-अर्चन किया। तभी उसने यह भी व्रत लिया कि यदि वह अजितनाथ की कृपा से अपने वैरी पर विजय पा गया तो

वही अजितनाथ मेरा ईश्वर, मेरी माता, मेरा गुरु और मेरा पिता होगा। तदनन्तर उसने बारहवीं बार फिर मारवाड़ की ओर प्रस्थान किया। अर्बुदाचल-आबू के पहाड़ के पड़ोस में दोनों का घमासान युद्ध हुआ। अर्णोराज एक दम परास्त हो गया। कुमारपाल ने अनहिलवाड़ में महान् उत्सव के साथ विजय-प्रवेश किया। वह अपनी प्रतिज्ञा भूला नहीं। अजितनाथ के मंदिर में जा कर उसने फिर पूजा-अर्चना की। उसके थोड़े दिनों पश्चात् ही उसने अमात्य से प्रकट किया कि वह जैन सिद्धांत से अवगत होने का इच्छुक है इसलिए किसी योग्य गुरु का प्रबंध कर दिया जाय। वाग्भट ने प्रस्ताव किया कि हेमचन्द्र को राजा की इच्छा पूर्ण करने के लिए आमन्त्रित किया जाये। इस प्रकार हेमचन्द्र का राजा कुमारपाल को प्रतिबोध करना सम्भव हो गया, जिसके फलस्वरूप कुमारपाल ने श्रावक के व्रतों की दीक्षा ली, मांस और अन्य वर्जित आहार लेने का त्याग किया एवम् जैन धर्म के नियमों का अध्ययन करने लगा।[६०]

मेरुतुंग का वर्णन इससे बहुत भिन्न है और अतिरंजित भी। उसके अनुसार कुमारपाल को राज्यप्राप्ति होते ही अपने आन्तरिक विरोधियों से मोरचा लेना पड़ा था। इसके बाद अर्णोराज या सपादलक्ष के आणक के विरुद्ध अभियान किया गया और तदनन्तर मल्लिकार्जुन, कोंकण के राज, से भी युद्ध करना पड़ा, जिसे उदयन के द्वितीय पुत्र आम्रभट्ट या आँबड़ ने हराया था। इन दोनों कथानकों के बीच में एक सोल्लाक नामक गायिका का कथानक भी जोड़ दिया गया है, और उसमें हेमचन्द्र का भी वर्णन है। इसका विरोध करता हुआ वह वर्णन भी है कि हेमचन्द्र कुमारपाल के गुरु और उपकारक मित्र कैसे बने और क्यों बने? मेरुतुंग के अनुसार हेमचन्द्र को अपनी माता की मृत्यु के अवसर पर अनहिलवाड़ में त्रिपुरुषप्रासाद के संन्यासियों द्वारा किये गये तिरस्कार या अपमान ने इतना विचलित कर दिया था कि वे राजदरबार में प्रभाव जमाने और इस अपमान का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध हो गये। वे मालवा गये जहाँ राजा का उस समय पड़ाव था। पुराने आश्रयदाता उदयन ने हेमचन्द्र का राजा से परिचय कराया। राजा को वह भविष्यवाणी स्मरण हो आई, जो हेमचन्द्र ने उसके 'भगोड़' के समय की थी। राजा ने तब उन्हें

अपना आश्रय प्रदान किया और चाहे जब मिलने की छूट भी दे दी। इस समागम का, जो शीघ्र ही स्थापित हो गया था, राजा के धार्मिक विश्वासों पर कोई तुरत प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ किंवदन्तियां इस सम्बन्ध की यहां दी जाती हैं। उदाहरणस्वरूप पुरोहित आमिग के साथ का झगड़ा [देखो पीछे पृ. ३३] जो प्रतिस्पर्द्धियों के आक्रमणों से रक्षा करने में हेमचन्द्र के चातुर्य का प्रदर्शन करता है। कुमारपाल के अनहिलवाड़ लौट आने के बाद ही हेमचन्द्र को उसे प्रतिबोध कर जैन धर्म का श्रद्धालु बनाने का अवसर प्राप्त हुआ था। एकबार कुमारपाल ने अपने गुरु से पूछा कि वह किस प्रकार अपने राज्य की स्मृति चिरस्थायी या अमर कर सकता है। हेमचन्द्र ने राजा को सलाह दी कि या तो वह विक्रमादित्य की तरह हर किसी का ऋण परिशोध कर दे अथवा देवपट्टन में सोमनाथ के पुराने जीर्ण काष्ठ के मंदिर के स्थान पर नया पाषाण का मंदिर बनवा दे। कुमारपाल ने दूसरी बात ठीक समझी और तुरत सोमनाथके मंदिर निर्माण के लिए अधिकारी की नियुक्ति कर दी। मंदिर की नींव डाल देने की सूचना मिलने पर हेमचन्द्र ने राजा से कहा कि मंदिर-निर्माण का काम कुशलतापूर्वक समाप्त होने के लिए वह कोई व्रत ले और सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य या मांसमद्य के पूर्ण त्याग का व्रत ले। कुमारपाल ने शिवलिंग की साक्षी से उस समय तक के लिए मांस और मद्य का सर्वथा त्याग कर दिया। दो वर्ष में मंदिर का निर्माण-कार्य समाप्त हुआ, तब कुमारपाल ने अपने व्रत से मुक्ति पानी चाही। परन्तु हेमचन्द्र ने उस समय तक उसे व्रत निर्वाह करने को राजी कर लिया जब तक कि वह नए मंदिर में पूजा नहीं कर ले। इसलिए तुरत सोमनाथ या देवपट्टन की यात्रा की तैयारी की गई और ईर्ष्यालु ब्राह्मणों की प्रेरणा से हेमचन्द्र को भी इस यात्रा में साथ चलने का निमंत्रण दिया गया। हेमचन्द्र ने वह निमंत्रण सहर्ष स्वीकार कर तो लिया, परंतु शत्रुंजय और गिरनार जाने के लिए चक्कर का मार्ग लिया। फिर भी देवपट्टन के नगरद्वार पर वे राजा से जा मिले और सोमनाथ मंदिर के पुजारी गण्ड बृहस्पति और राजा कुमारपाल के मंदिर प्रवेश के जुलुस में सम्मिलित हो गए। अपने आश्रयदाता के इच्छानुसार उन्होंने वहां शिवपूजन में भी भाग लिया। मूल्यवान वस्त्र पहन कर बृहस्पति के साथ वे मंदिर में गए। मंदिर के सौन्दर्य

की सराहना की। शिवपुराण में बताई विधि के अनुसार सब क्रियाएँ कर नीचे लिखे श्लोक बोल कर लिंग के समक्ष साष्टांग प्रणिपात किया :—

१. हे देव ! तू चाहे जो हो, तेरा निवास, चाहे जिस स्थान में हो, चाहे जैसा समय हो, और तेरा चाहे जो नाम हो, परंतु तू राग-द्वेष से रहित हो तो, हे पूज्य ! तुझे मेरा नमस्कार है।

२. जन्म-मरणरूपी संसार के रचयिता, राग द्वेष जिसके नष्ट हो गये हैं, ऐसे ब्रह्मा, अथवा विष्णु अथवा शिव अथवा जिस किसी नाम से वह पूजा जाता हो, उस भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

जब हेमचन्द्र ने स्तुति समाप्त कर दी तो कुमारपाल ने पुजारी बृहस्पति की बताई रीति से भगवान् शिव का पूजन किया और बहुमूल्य भेंटदानादि दिये। फिर उसने साथ के लवाजमे को विसर्जित कर दिया और हेमचन्द्र के साथ पूजातिपूज्य के पास भीतर गया जहाँ उसने लिंग के समक्ष संसारमुक्ति का मार्ग समझाने की उनसे प्रार्थना की। हेमचन्द्र क्षण भर के लिए ध्यानमग्न हो गए। तदनन्तर उन्होंने परमात्मा को, जो सत्य ही वहाँ था, यह प्रार्थना करने का प्रस्ताव किया कि वह वहाँ साक्षात् हो कर मुक्ति का मार्गदर्शन करे। हेमचन्द्र ने इष्टसिद्धि के लिए स्वयम् गहन समाधि लेने की सूचना दी और राजा को सारे समय कृष्णागुरू का धूप जलाते रहने को कहा। इस प्रकार दोनों जब अपने-अपने कार्य में लगे थे तब मूल गर्भगृह धूप के धूएं से खूब भर गया और उसी में अकस्मात् एक प्रकाशमान ज्योति प्रकट हुई और लिंग के आसपास की जलेरी में प्रकाश किरण फेंकता हुआ उसमें एक संन्यासी का रूप प्रकट हुआ। राजा ने उसका चरण से मस्तक तक स्पर्श किया और इस बात का विश्वास हो जाने पर कि वह दैवी है, उससे उचित मार्गप्रदर्शन की प्रार्थना की। इस पर उस दिव्य पुरुष ने कहा कि हेमचन्द्र उसे मोक्ष का मार्ग निश्चय ही बता देगा। इतना कह कर वह दिव्य पुरुष लुप्त हो गया। फिर राजा ने हेमचन्द्र से पूरे विनय के साथ मोक्ष का मार्ग बताने की प्रार्थना की। हेमचन्द्र ने तुरत राजा को यह व्रत दिलाया कि वह आजीवन किसी भी प्रकार का मांस और मद्य सेवन तो नहीं ही करेगा, उनका स्पर्श तक नहीं करेगा। थोड़े ही दिनों पश्चात् कुमारपाल अनहिलवाड़ लौट आया। वहाँ वह हेमचन्द्र द्वारा

धर्मशास्त्र के उपदेश एवम् उनके रचित ग्रन्थ, **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, योगशास्त्र, और वीतराग की स्तुति** में रचे २२ स्तवों के पठन पाठन से जैन धर्म की ओर झुकता गया। कुमारपाल को 'परमार्हत्' अर्थात 'अर्हत् का परम उत्साही पूजक' पद से विभूषित किया गया। उसने अपने अधीन १८ प्रान्तों में चौदह वर्ष तक पशुवध निषेध का फरमान प्रसारित किया। उसने १४४० जैन मंदिर बनवाए और जैन श्रावक के बारह व्रत अंगीकार कर लिये। जब तीसरे अणु व्रत 'अदत्तादान' का मर्म उसे समझाया गया तो उसने तुरत निःसन्तान मरने वाले की सम्पत्ति राज्यार्पण की पुरातन प्रथा को सदा के लिए बंद कर दिया।[63]

मेरुतुंग के साथ जिनमन्डन मुख्यतया सहमत है। परंतु उसे **प्रभावक-चरित्र** और **प्रबन्धचिंतामणि** की कथाओं का परस्पर विरोध खटका। उसे यह अविश्वसनीय लगा कि हेमचन्द्र, जिसने कुमारपाल की भगोड़ अवस्था में सहायता और उसके राजा होने की भविष्यवाणी की थी, राज्य-प्राप्ति के पश्चात इतने वर्षों तक राजा द्वारा भुला दिया गया और उन्हें राज दरबार में प्रवेश फिर से एक अमात्य के बीच बचाव द्वारा ही प्राप्त हुआ। इसलिए उसने अपने वृत्तांत के प्रारम्भ में ही एक नई कथा घड़ दी। वह इस प्रकार है कि हेमचन्द्र कुमारपाल के राज्यारोहण के पश्चात शीघ्र ही दरबार में पहुँचे। परंतु यह कथा स्पष्ट कह रही है कि इसके रचयिता को पुरानी दन्तकथाओं का ज्ञान था और उसने उन्हें जान बूझ कर बदला है। राजा को सहायता देने वालों एवम् अमात्य उदयन को दिये गये पुरस्कारों का वर्णन करने के पश्चात् वह कहता है कि हेमचन्द्र को एकदम विस्मरण कर दिया गया था। फिर भी कुमारपाल के राज्याभिषेक के कुछ ही समय पश्चात् हेमचन्द्र कर्णावती से अनहिल-वाड़ गये। उन्होंने तब उदयन से पूछा कि राजा ने उन्हें स्मरण किया या नहीं। नकारात्मक उत्तर सुनकर उन्होंने राजा को अमुक दिन रानी के महल में नहीं जाने की उदयन द्वारा सूचना करा दी। चेतावनी देने वाले का नाम यदि राजा पूछे तो अपना नाम बता देने के लिए भी हेमचन्द्र ने उदयन से कह दिया। उदयन ने राजा को चेतावनी दे दी और राजा ने तदनुसार ही किया। उस दिन बिजली गिरने से रानी के महल में आग लग गई और महल जल कर राख

हो गया। तब राजा ने चेताने वाले को उदयन से पूछ ताछ की। जब हेमचन्द्र का नाम लिया गया तो राजा ने उनको तत्काल निमंत्रित किया और अपनी विस्मृति की पूर्ण विनयपूर्वक क्षमा प्रार्थना की एवम् उनकी मंत्रणा से ही राज्य करने का अभिवचन दिया[६२]। यह वर्णन करके कि हेमचन्द्र कुमारपाल के मित्र और परामर्शदाता वि. सं. ११९९ के बाद ही हो गये थे, जिनमण्डन ने कुमारपाल के विश्व-विजय का संक्षेप में वर्णन किया है। इस वर्णन में वह मेरुतुग का पूर्णतया ही नहीं, अपितु अक्षरशः भी पालन करता है सिवा इस बात के कि वह पाहिणी की मृत्यु पर किये गये हेमचन्द्र के अपमान की और तदन्तर मालवा विजय को बात कुछ भी नहीं कहता है। जान पड़ता है कि यह वर्णन उसे अच्छा नहीं लगा। कुछ विवरणों में वह मेरुतुग की अपेक्षा अधिक व्यापक है और कितने ही उद्धरण दे कर वह कुमारपाल के जैन धर्म स्वीकार करने का वर्णन भी बढ़ा देता है। ये उद्धरण हेमचन्द्र से ही दिये गये हैं यह भी वह कहता है[६३]।

अध्याय छठा

कुमारपाल के धर्म परिवर्तन संबंधी हेमचन्द्र का वर्णन

यदि हम कुमारपाल के धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी इन अनेक दन्तकथाओं की परस्पर तुलना करें तो हम अस्वीकार नहीं कर सकेंगे कि मेरुतुंग की कथा बड़ी ही चतुराई से कही गई है और उसका वर्णन प्रथम दृष्टि में बड़ा आकर्षक भी लगता है। यह बात कितनी स्वाभाविक लगती है कि एक ब्राह्मण द्वारा अपमानित हो हेमचन्द्र अपनी स्वतंत्रता खोने और राजा का आश्रय प्राप्त करने का निश्चय कर जिस चतुराई से वह राजा की शिव भक्ति को रंचमात्र भी ठेस पहुंचाये बिना, बल्कि उसको उकसाते हुए, जैन धर्म की कुछ मुख्य बातें कुछ समय के लिए पालन करने के लिए कुमारपाल को तैयार करते है, वह स्पष्ट ही बताता है कि उन्हें राजदरबार में किस कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। यह अनुकूलन और प्रत्यक्ष ढील, राजा को कौशल से अनुकूल करना और अन्त में उचित समय का पूर्ण लाभ उठाना, आदि सब बातें विश्वास योग्य प्रतीत होती हैं और जैन-धर्म प्रचारकों के तौर तरीकों से हर प्रकार से मेल खाती हैं। किन्तु सूक्ष्म परीक्षण करने पर इस वर्णन में कितनी ही अघट और असम्भव बातें दिखाई देने लगती हैं। उदाहरण के लिए यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि मेरुतुंग काल-गणना के भयंकर भ्रमों में पड़ गया है, जब वह यह मान लेता है कि उदयन कुमारपाल का अमात्य था और उसने हेमचन्द्र को राजा कुमारपाल से परिचित कराया था। मेरुतुंग के ही कथनानुसार [पृष्ठ १५] उदयन गुजरात में जयसिंह के राज्यारोहण के कुछ ही समय पश्चात् अर्थात् वि स. ११५० में आया था। कुमारपाल उसके ५० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि सं. ११९९ में राजगद्दी पर बैठा था। इसलिए यह बिलकुल असम्भव है कि उदयन कुमारपाल के नीचे भी एक लंबे

काल तक रहा होगा या यह कि वह उसका अमात्य रहा होगा। मेरुतुंग का यह मानना भी कि हेमचन्द्र ने देवपट्टन मंदिर के पुनर्निर्माण की सलाह दी थी, दूसरे वर्णनों से जरा भी मेल नहीं खाता। क्यों कि वल्लभी संवत् ८५० तदनुसार बि. सं. १२२५ के देवपटटन स्थित भद्रकाली के मंदिर के लेख के जिसका पता सब से पहले कर्नल जेम्स टाड को लगा था, ११ वें श्लोक में स्पष्ट ही लिखा है कि गंड वृहस्पति ने जो राजा जयसिंह को बहुत ही मानता था, कुमारपाल को शिव सोमनाथ के मंदिर के पुनरुद्धार के लिए तैयार किया था[६४]। मेरुतुंग द्वारा किये गये बहुत पीछे के वर्णन से उक्त लेख का वर्णन निःसंदेह अधिक उपयुक्त एवम् माननीय है, क्योंकि वह कुमारपाल के राज्य-काल का ही है। इसलिए यदि उक्त लेख की बात सत्य है तो **प्रबन्धचिंतामणि** की सारी की सारी कथा अविश्वसनीय हो जाती है। ये बातें यद्यपि मेरुतुंग के प्रन्थ में कही गयी बातों की वास्तविकता के सम्बन्ध में सदेह उत्पन्न कराती हैं तो फिर वह दन्तकथा **और प्रभावकचरित्र** का वर्णन भी कुमारपाल के इतिहास एवम् उसके पारस्परिक संबंध के विषय में, हेमचन्द्र के निज के वक्तव्य के प्रकाश में, भी उतने ही निकम्मे ठहर जाते हैं। हेमचन्द्र ने **द्वयाश्रयकाव्य** के कम-से-कम चार सर्ग १६-१९ कुमारपालके उन सफल युद्ध-वृत्तांत में लिखे है, जो राजपूताना स्थित शाकम्भरी सांभर के राजा अर्णोराज और मालवा के राजा बल्लाल के विरुद्ध किये गये थे। यद्यपि इनकी कोई निश्चित तिथि तो नहीं दी गई है, फिर भी इस वर्णन से कि कुमारपाल राज्यारोहण के बाद ही बाहरी गड़बड़ों में फंस गया था और उनमें से सफलतापूर्वक निकलने में उसे पर्याप्त समय लगा था, इसके सत्य होने में विश्वास किया जा सकता है। राज्यारोहण के बाद ही कुमारपाल का अर्णोराज से युद्ध शुरू हो गया था और वह कितने ही वर्षों तक चलता भी रहा था। उसके बाद ही मालवा के बल्लाल के साथ युद्ध हुआ जो थोड़े ही समय में समाप्त हो गया था। २० वें सर्ग में कहा गया है कि इन युद्धों के समाप्त होने पर कुमारपाल ने गुजरात में पशुवध का निषेध कर दिया। पशुवध-निषेध का फरमान प्रघोषित करने के पश्चात्, ऐसा भी कहा गया है कि, राजा ने उत्तराधिकारीविहीन मृतकों की सम्पत्ति को राज्यार्पण करने की प्रथा समाप्त कर दी थी। आगे चल कर गढ़वाल प्रांत के केदार या केदारनाथ में और काठियावाड़ के

देवपट्टन में शिव के मंदिरों का पुनर्निर्माण कराया और उसके बाद देवपट्टन और अनहिलवाड़ में पार्श्वनाथ के मंदिर नये बनावाये गये जिनमें से अनहिलवाड़ के मंदिर का नाम कुमारविहार रखा गया था। कुमारपाल के राज्य की अन्तिम घटनाएं, जैसी कि **द्वयाश्रय** मे कही गई है, है[६५] अनहिलवाड़ में शिव मंदिर का निर्माण कराना और अपने नाम के नए संवत् की नींव डालना। इन वर्णनों से यह परिणाम निःसंशय ही निकाला जा सकता है कि कुमारपाल ने मालवा के युद्ध के पश्चात् ही जैन धर्म स्वीकार किया था। यह भी संभव लगता है कि हेमचन्द्र, हालां कि **द्वयाश्रय** में एक भी शब्द अपने और राजा के सम्बन्ध के विषय में स्वयम् नहीं कहते है, फिर भी राजा से पहले से परिचित थे और उनका प्रभाव भी था। इसका समर्थन हमे हेमचन्द्र की एक दूसरी कृति के अंशों से प्राप्त होता है। **महावीरचरित्र** में हेमचन्द्र तीर्थंकर द्वारा कुमारपाल के राज्य के सम्बन्ध में अभयकुमार के समक्ष भविष्य कथन कराते हैं जिसमें उनका नाम भी आता है और राजा से किस प्रकार उनका पहले पहल मिलना हुआ था, यह भी वर्णन है। अनहिलवाड के वर्णन के बाद महावीर और भविष्य इस प्रकार कहते हैं :-

४५-४६. हे अभय, जब मेरे निर्वाण को १६९९ वर्ष व्यतीत हो जायेंगे तब उस नगर अनहिलवाड़ में विशाल भुजावाला राजा कुमारपाल, चौलुक्य वंश का चन्द्रमा, अखण्ड शासन-प्रचण्ड होगा।

४७. वह महात्मा धर्मदान-युद्धवीर, प्रजा का पिता के समान रक्षण करता हुआ उन्हें सम्पन्नता के शिखर पर पहुंचायेगा।

४८. वह अत्यन्त कुशल परन्तु ऋजु, सूर्य के समान तेजस्वी परन्तु शांत, दुर्घर्ष शत्रुशासक परन्तु क्षमावान, संसार का बहुत काल तक शासन करेगा।

४९. अपनी प्रजा को वह अपने ही समान धर्मनिष्ठ वैसे ही करेगा जैसे विद्यापूर्ण उपाध्याय अपने अंतेवासी को करता है।

५०. संरक्षण चाहने वालों को संरक्षण देने वाला, परनारियों के लिए भाई के समान, और प्राणों व धन से भी धर्म को ऊपर मानेगा।

५१. अपनी वीरता से, नियमपालन से, उदारता से, दया से, बल से और अन्य मानवीय सद्‌गुणों से वह अद्वितीय होगा।

५२. तुरुष्कों की राज्यसीमातक कुबेर के प्रदेश पर, देवनदी पर्यन्त इन्द्र के प्रदेश पर, विंध्य तक यम के प्रदेश पर और पश्चिम में समुद्र तक वह अपने राज्य का विस्तार करेगा।

५३. एक समय यह राजा वज्रशाखा के मुनिचन्द्र की परम्परा में होने वाले मुनि हेमचन्द्र को देखेगा।

५४. उन्हें देखकर ऐसा प्रसन्न होगा जैसे मेघ को देखकर मयूर प्रसन्न होता है। और यह महात्मा इस गुरु को प्रतिदिन वंदन करने को आतुर रहेगा।

५५. यह राजा अपने जैनी अमात्यों के साथ उस सूरि (आचार्य) को वंदन करने उस समय जायेगा, जब कि वे जिन मंदिर में पवित्र धर्म का उपदेश दे रहे होंगे।

५६. वहाँ, तत्त्व का अज्ञानी होते हुए भी जिनदेव को नमस्कार करके वह शुद्ध भाव से गुरु को वन्दन-नमन करेगा।

५७. उनके मुख से विशुद्ध धर्म देशना सुनकर प्रसन्न होगा और सम्यक्त्व-पूर्वक अणुव्रतों का स्वीकार करेगा।

५८. वह बोधिप्राप्त श्रावकाचारपारग होकर आस्था में रहा हुआ धर्मगोष्ठि से अपने को सदा प्रसन्न-चित्त रखेगा।[६६]

यह भविष्यवाणी द्व्याश्रयकाव्य के वर्णन से न केवल मिलती-जुलती ही है अपितु उसको संपूर्ण भी करती है। गुजरात के राज्य की सीमाओं के इस काव्य-रंजित वर्णन से स्पष्ट होता है कि उत्तर पूर्व में वह सपादलक्ष की विजय से या पूर्वी राजपूताना में शाकम्भरी–साम्भर को जीत कर और दक्षिण-पूर्व में मालवा की विजय से बढ़ गया था। हेमचन्द्र से कुमारपाल का परिचय श्लोक ५३ के अनुसार उस समय हुआ जब कि साम्राज्य अधिकतम विस्तृत हो चुका था

और युद्ध अभियान एवम् विजय भी समाप्त हो गये थे। उसका जैन धर्म स्वीकार करना भी हेमचन्द्र के उपदेश के कारण तब हुआ था जब कि वह एक अज्ञात नाम अमात्य के साथ जैन मन्दिर में उस गुरु की वंदना के लिए गया था जिसने उसको अत्यन्त प्रभावित किया था।

हेमचन्द्र का उपरोक्त विवरण हमें यह मानने के लिए बाध्य कर देता है कि हम कुमारपाल के भगोड़ समय में उनसे प्रथम सम्पर्क के कथानकों को काल्पनिक समझ कर त्याग दें। ये कथानक सम्भवतः बाद के सम्बन्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए रचे गए हैं। उनसे यह भी मालूम होता है कि परिचय के नवीकरण और धर्म-परिवर्तन के प्रबन्धों के विवरण भी ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण नहीं है। **प्रभावकचरित्र** का उपरोक्त कथानक, जिसके अनुसार कुमारपाल ने अपने अमात्य वाग्भट्ट के कहने से अर्णोराज पर विजय पाने में सहायता के लिए अजितनाथ की पूजा-स्तुति की और वह प्रार्थना सफल हो जाने के कारण उसने जैन धर्म अंगीकार कर लिया था, सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि मालवे का युद्ध जिसका **प्रभावकचरित्र** में वर्णन तक नहीं है, धर्म-परिवर्तन के पहले ही हो चुका था। इसलिए हेमचन्द्र की दैवी शक्तियों के डर ने नहीं, अपितु उनके जीवन और उपदेश के प्रभाव ने ही कुमारपाल को व्याख्यान सुनने को ललचाया था। मेरुतुंग का ब्यौरेवार विवरण हेमचन्द्र के अपने विवरण से और भी विरुद्ध जाता है। प्रबन्ध ग्रन्थ कुछ सीमा तक दो ही बातों में हेमचन्द्र से सहमत हैं और इस तरह वे यथार्थ परम्परा या किवदन्ती को सुरक्षित कर देते हैं। पहली बात तो यह है कि वे इस बात में निःसंदेह सत्य है कि कुमारपाल के जैन अमात्य ने हेमचन्द्र को राज दरबार से परिचित कराया था और अपने धर्म के लिए वह अनुकूल वातावरण पैदा करना चाहता था। क्योंकि, महावीर चरित्र के अनुसार, राजा के साथ जिन मन्दिर में जानेवाले जैन अमात्य का उल्लेख अकारण ही नहीं किया गया है। हमें यह सिद्ध या प्रमाणित हुआ मान लेना चाहिए कि इसी जैन साथी ने हेमचन्द्र का राजा के साथ परिचय कराया था और यही राजा को जैन मन्दिर में ले भी गया था। प्रभावकचरित्त की धर्म-परिवर्तन की उपर्युक्त कथा में वर्णित अमात्य बहुत करके उदयन का पुत्र वाग्भट्ट ही था। हेमचन्द्र के शिष्य वर्धमान द्वारा **कुमारविहार** की प्रशंसा में रचित काव्य यह

प्रमाणित करता है कि वाग्भट कुमारपाल के अमात्यों में से एक था। प्रबन्धों के कितने ही कथानक निर्देश करते है कि हेमचंद्र सदा ही उदयन के परिवार से सम्बद्ध रहे हैं। इस प्रकार सभी प्रबन्ध यह मानते है कि हेमचन्द्र ने वि. सं. १२११ अथवा १२१३ में वामनस्थली के चूडासमा राजा नवघण के युद्ध मे मृत अपने पिता की स्मृति में बनाये वाग्भट के शत्रुंजय में मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई थी। एक प्रबन्ध मे यह भी कहा है कि हेमचन्द्र ने उदयन के दूसरे पुत्र आम्रभट्ट के भडौंच मे बनाये सुव्रत स्वामी के मन्दिर की प्रतिष्ठा भी वि. स. १२२० मे कराई थी और दूसरे प्रबन्धों मे [नीचे देखिये] आम्रभट्ट के हेमचन्द्र द्वारा स्वस्थ किये जाने की भी एक कथा मिलती है[६७]। यदि इनमें मेरुतुग की वह बात, चाहे काल-गणना से वह बैठती हुई न भी हो तो, भी जोड़ दें कि हेमचन्द्र का उक्त दोनों भाइयों के पिता ने ही कुमारपाल से परिचय कराया था तो यह कहना जरा भी धृष्टतापूर्ण नहीं होगा कि अनहिलवाड़ के राजदरबार पर हेमचन्द्र के प्रभाव का मुख्य कारण उदयन का परिवार ही था और इसलिए हेमचन्द्र उस परिवार के एक विशेष संरक्षित व्यक्ति थे। प्रबन्धों के कथानकों मे ऐतिहासिक तथ्य का दूसरा यह विवरण है कि कुमारपाल का धर्मपरिवर्तन उसके राज्यारम्भ काल मे नहीं, अपितु राज्य के मध्य काल मे हुआ था। यहाँ भी, जैसा कि दिखलाया जा चुका है, वे हेमचन्द्र के वर्णन से मिलते हुए हैं।

इस घटना की यथार्थ तिथि राज-सलाहकार यशःपाल रचित **मोहपराजय नाटक** मे सुरक्षित रूप में उपलब्ध है जिसका पहले भी वर्णन किया जा चुका है। राजा के धर्मपरिवर्तन की बात **धर्मराज** और **विरतिदेवी** की पुत्री **कृपासुंदरी** से उसका विवाह कराकर लाक्षणिक रूप से कह दी गई है। अर्हत के समक्ष इस विवाह सम्बन्ध को करा देने वाले गुरु हेमचन्द्र ही बताये गये हैं। जिनमण्डन द्वारा दिये गये **मोहराजपराजय नाटक** के उद्धरण के अनुसार, यह विवाह वि. सं. १२१६ के मार्गशीर्ष सदी २ को हुआ था। यदि हम यह मान लें कि नाटक में वर्णित यह दिन यथार्थ है, तो हमें इसे आधारभूत मान ही लेना होगा क्योंकि **मोहराज-पराजय नाटक**, जैसा कि टिप्पण ६ में सिद्ध किया गया है, कुमारपाल की मृत्यु

के कुछ वर्ष पूर्व अर्थात् वि. सं. १२२८ और १२३२ के मध्य किसी समय लिखा गया था[८८]। यह भी कह देना यहां उचित है कि कुमारपाल ने 'परम श्रावक' का विरुद प्राप्त कर लिया था। यह एक प्राचीन पोथी, जो पाँच वर्ष पश्चात् अर्थात् वि. सं. १२२१में लिखी गई है, की प्रशस्ति में लिखा मिलता है। परन्तु धर्म-परिवर्तन की यह बात वि. सं. १२१३ के जैन शिलालेख में बिलकुल ही नहीं कही गई है।[८९]

यदि हम यह मान लेते हैं कि कुमारपाल के धर्म-परिवर्तन की घटना वि. सं १२१६ में घटी तो उसका हेमचन्द्र से पहले पहल मिलाप इससे एक या दो वर्ष पहले तो होना ही चाहिए। **महावीरचरित** यद्यपि यह कहता है कि राजा प्रसिद्ध गुरु से परिचित होने के पश्चात सदा ही उन्हें वंदन नमन करनेके लिए आतुर रहेगा, फिर भी इन शब्दों को सुवर्णाक्षर मान लेने का कोई कारण नहीं है। जैन उपाश्रय में राजा के जाने और वहां श्रोता के रूप में हेमचन्द्र के चरणों में बैठने के पूर्व उसका बहुत सा समय गुप्त षड्यंत्रों में बीता होगा। कुछ भी हो, जिस रीति से यह सम्बन्ध धीरे-धीरे बढ़ता गया और हेमचन्द्र ने राजा का विश्वास एवम् कृपा अर्जित की, उससे हम अवश्य ही कुछ ऐसी धारणाए, जो बिलकुल ही निराधार नहीं कही जा सकती है, उसकी अन्य कृतियों के कुछ विवरणों के आधार से पेश कर सकते हे, चाहे हम उनसे पूर्ण सत्य तक पहुँचने में असफल रहें। परंतु ऐसा करने के पहले, जयसिंह की मृत्यु के समय वि० सं० ११९९ और कुमारपाल से वि० सं० १२१८ या १२१८ में परिचित होने तक के मध्यवर्ती समय की हेमचन्द्र की प्रवृत्तियों का विचार कर लेना आवश्यक है।

जैसा कि पृष्ठ ३० में कहा गया है, वि० स० ११९४ में दरबारी पण्डित नियुक्त किये जाने के पश्चात् हेमचन्द्र ने सांसारिक विद्याओं और विशेष रूप से संस्कृत रचनाओं में सहायक ग्रन्थों की पूर्ण पुस्तक-माला लिख देने का काम हाथ में लिया था। इनमें से व्याकरण एवम् उसके परिशिष्ट और उसकी वृत्तियाँ, दोनों **कोश** और **द्वयाश्रयमहाकाव्य** के प्रथम १४ सर्ग जयसिंह की मृत्यु के पहले ही लिख कर समाप्त कर दिये गये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वि० सं० ११९९ के पश्चात् अपनी राजदरबारी स्थिति की हानि की चिंता किये बिना, वे अपनी योजना के अनुसार अराजदरबारी पंडित (प्राइवेट स्कालर) रूप में बराबर काम करते रहे थे। तब वे व्यक्तिगत रूप में ही अथक परिश्रम करते

रहे थे। इस अवधि की उनकी पहली रचना है काव्यशास्त्र सम्बन्धी पोथी **अलंकारचूड़ामणि** ८५ अ। पूर्व कथित इसके उद्धरण [देखो टिप्पण ३८] में यह कहा गया है कि इसकी रचना व्याकरण की समाप्ति के पश्चात् ही की गई थी। और एक दूसरी अत्यन्त प्रभावशाली घटना भी यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देती है कि इसकी रचना उस समय हुई जब कि रचयिता को राज्याश्रय प्राप्त नहीं था। क्योंकि इसमें हां नहीं बल्कि इसकी वृत्ति में भी, जो अनेक श्लोकों की है, गुजरात के राजा की प्रशसा रूप से कोई प्रशस्ति नहीं है। यह बात इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है कि उस काल मे काव्य रचयिता कवियों में यह एक सामान्य प्रथा थी कि वे अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में कुछ श्लोक रचना के अन्त मे अवश्य ही जोड़ें। हेमचन्द्र स्वयम् भी इस प्रथा के कोई अपवाद नहीं थे, क्योंकि अन्य दो रचनाओं मे अपने आश्रयदाता की प्रशसा मे कुछ कहने का कोई अवसर वे चुके नही है। व्याकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति मे उपलब्ध प्रशस्ति का वर्णन तो ऊपर किया ही जा चुका है। दूसरे का विचार आगे किया जायगा। काव्यशास्त्र के ग्रन्थ में तो उनके लिए विशेष रूप से जयसिंह या कुमारपाल के वीरतापूर्ण कृत्यों का वर्णन करना वैसा ही सरल था, जैसा कि अलंकारशास्त्र मे उनसे पर्व होने वाले वाग्भट्ट ने किया है।[६०] परन्तु ऐसा नहीं किया गया है। इसलिए यह अच्छी तरह मान लिया जा सकता है कि उसके लिखते समय लेखक का राजा से कोई सम्बन्ध नहीं था और यह निर्णय करने में भी कोई कठिनाई नहीं है कि वह जयसिंह की मृत्यु और कुमारपाल से परिचय होने के काल का मध्यवर्ती समय ही था। पिंगलशास्त्र के ग्रन्थ **छन्दोनुशासन**[६१] के, जो कि **अलंकारचूड़ामणि** के बाद ही, जैसा कि उसके प्रारम्भिक श्लोकों से पता चलता है, लिखा गया था और उसकी टीका के लिए भी उतना ही सत्य है। यहाँ भी समर्पण एवम् उदाहरणों मे राजा के लिए साधुवाद का अभाव है। यह भी द्रष्टव्य है कि इन दोनों ग्रंथों को पहले पूर्ण किया गया था और **अलंकारचूड़ामणि** की टीका **छंदोनुशासन** के पूर्ण हो जाने के पश्चात ही लिखी गई थी। इसका पता इस बात से लगता है कि हेमचन्द्र **छंदोनुशासन** का न केवल **अलंकारचूड़ामणि** की टीका में संदर्भ ही देते हैं अपितु उसको एक पूर्ण हुआ ग्रंथ भी कहते हैं।[६२] दोनों कोशों के

अनेक संपूरक ग्रन्थों की और विशेषतया प्राकृत कोश **देशी नाममाला** या **रत्नावली** की तो इसी अवधि में कल्पना की गई होगी। इन संपूरकों में सबसे पहला है **शेषाख्यानाममाला** जो **अभिधानचिंतामणि** को पूर्ण करता है और जिसमें यादवप्रकाश की **वैजयन्ती** से[७३] उद्धरण विशेष रूप से दिये गये हैं। तदनन्तर **निघंटु** या **निघंटु शेष** जिसका परिचय अभी तक बहुत ही कम मिला है, का नाम लिया जा सकता है। जैन पण्डितों की परम्परा की मान्यता है कि हेमचन्द्र ने इस नाम के छोटे छोटे छह ग्रन्थ रचे थे। परन्तु अब तक ऐसे तीन ही ग्रन्थ खोज में मिल सके हैं। दो में तो वनस्पति या औद्भिदों के शब्दों का सक्षिप्त सर्वेक्षण है और तीसरे में मूल्यवान रत्नों का। यह अघटनीय नहीं है कि ये ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थ **धन्वन्तरीनिघंटु** और रत्न परीक्षा की देखादेखी ही लिखे गये हों। इनमें ऐसा भी कोई निर्देश नहीं है कि वे राजा के आदेश से लिखे गये थे। **शेषाख्यानाममाला** के संबंध में तो अवश्य ही ऐसा सदेह किया जा सकता है कि क्या वह वि० सं० ११९९ और १२१४-१५ के बीच में लिखा भी गया था? क्योंकि इसको कितनी ही पोथियों में, अभिधान चिंतामणि की टीका के साथ शामिल किया हुआ है, और यह टीका हेमचन्द्र के जीवन के अन्तिम वर्षों की रचना है जैसा कि आगे सिद्ध किया जायेगा। दूसरी ओर **देशी नाममाला** कुमारपाल से हेमचन्द्र का परिचय होने के कदाचित् कुछ ही पूर्व लिखी गयी थी क्योंकि हेमचन्द्र उसके उपोद्घात के तीसरे श्लोक में संकेत करते और उसकी व्याख्या में स्पष्ट ही कह देते हैं कि मैंने केवल अपना व्याकरण ही नहीं, अपितु संस्कृत कोश एवम् अलंकारशास्त्र भी पूर्ण कर दिये थे।

दूसरी ओर टीका में, जो निश्चय ही पीछे की लिखी हुई है, कम से कम १५ श्लोक तो ऐसे हैं ही जिनमें राजाओं का नाम से उल्लेख है और दूसरे ९ श्लोकों में चालुक्य या चुलुक्य विरुद या विशेषण आता है और अनेक श्लोक केवल राजा को उद्दिष्ट करके ही लिखे गये हैं। इन सब श्लोकों का सम्बन्ध कुमारपाल से है और उनमें उसके शौर्य-कार्यों की प्रशंसा है, उसके प्रताप की महत्ता है, उसके दुश्मनों के दुःखों का वर्णन है और उसकी दानशीलता की प्रशंसा है। एक स्थल पर तो ऐतिहासिक घटना विशेष की ओर ही संकेत किया गया मालूम पड़ता है। श्लोक ११८ सर्ग ६ में कहा गया है :—

'तेरा शौर्य अप्रतिहत रूप से विस्फुलिंग विकीरण करता है। हे राजन ; तू युद्धदेवी का पति है। क्या तेरी प्रतिष्ठा अपतिव्रता चण्डालिनी स्त्री की तरह पल्ली-भूमि पर भी आजादी से नहीं विचरती है ?'[७५]

पल्ली भूमि से यहाँ तात्पर्य है अजमेर और जोधपुर के बीच का पाली मारवाड़ प्रान्त। इस श्लोक में सपादलक्ष या शाकम्भरी [सांभर] के राजा अर्णोराज पर प्राप्त कुमारपाल की विजय की ओर संकेत है, ऐसा भी हमें मान लेना होगा।

इस श्लोक के विषय में चाहे जो सोचा जाये, यह अत्यन्त स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ **देशीनाममाला** की टीका में कुमारपाल का विजय और शौर्य को ही महत्व दिया है और उसकी जैनधर्म में श्रद्धा एवम् ईश्वर-भक्ति के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहा है। यह इस परिणाम का ही समर्थन करता है कि इस ग्रन्थ की रचना हेमचन्द्र ने कुमारपाल के दरबार में पहुंच जाने के पश्चात, परन्तु उसको जैनधर्मी बनाने के पूर्व ही, की थी। इसलिए इस टीका की रचना का समय स्थूलतया वि० स० १२१४-१५ होना चाहिए। यह बात इसका भी संकेत करती है कि हेमचन्द्र ने किन तौर तरीकों से राजा की कृपा प्राप्त की थी। सबसे पहले तो उन्होंने अपने लौकिक चातुर्य और सामारिक ज्ञान के द्वारा राजा पर सद्प्रभाव जमाया। अपने कृपालु वाग्भट्ट द्वारा परिचय कराये जाने के पश्चात् उन्हें कदाचित् पण्डितों के दरबार में होनेवाली दैनिक गोष्ठियों में उपस्थित होने की आज्ञा मिल गयी थी। उनकी स्थिति प्रारम्भ से ही स्वभावतया अनोखी रही थी। प्रवीण शास्त्रज्ञ रूप से उनकी प्रतिष्ठा बहुत पहले से खूब जमी हुई थी और उससे कुमारपाल प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था चाहे उसने स्वयम्, जैसा कि मेरुतुंग की एक कथा में कहा गया है,[७६] बुढ़ापे में ही ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया हो। हेमचन्द्र ने अपना प्रकाश निःसंदेह गोपन कर नहीं रखा होगा, अपितु अपने असीम पाण्डित्य द्वारा राजा के समक्ष होने वाली पण्डितों की चर्चाओं में उसको फैलाया होगा। अपनी विशुद्ध वैज्ञानिक कृतियों से प्रभावित करने के अतिरिक्त उन्होंने राजा को उसकी युद्ध-प्रवृत्तियों की स्तुतियों से भी अवश्य ही बहुत प्रभावित किया होगा, जिनके उदाहरण स्वरूप **देशीनाममाला**

की टीका में से कुछ श्लोक प्रस्तुत किये जा सकते हैं। दरबार में धार्मिक चर्चा के अवसरों की सम्भवतः कोई कमी नहीं थी। सभी विवरणों से कुमारपाल लगभग ५० वर्ष का वृद्ध था जब कि वह राज्यासीन हुआ था और सैनिक अभियानों से मुक्त हो कर आराम करने का जब उसे अवसर मिला, तब वह ६३ वर्ष का हो चुका था। उस अवस्था में उसका धार्मिक बातों की ओर झुकना ठीक-ठीक समझ में आ सकता है। क्यों कि ऐसा, और विशेषतया भारतीयों में तो, होना बिलकुल ही स्वाभाविक है। फिर यह ध्यान देने की बात है कि वर्षों तक वह, जैसा कि प्रबन्धों में हमें विश्वास दिलाया गया है, शैव संन्यासी के वेश में मारा-मारा भटकता फिरा था और जैसा कि हेमचन्द्र अपने ग्रन्थ 'योगशास्त्र' में कहते हैं [देखो टिप्पण ८०], उसने योग पर कितनी ही पोथियाँ देख ली थी और वह संन्यासियों की योग-क्रियाओं में बहुत रुचि दिखाता था जो कि पहले तो दैवी शक्तियाँ प्राप्त कराती है और अन्त में संसार से मोक्ष भी। हेमचन्द्र इन योगिक प्रक्रियाओं में भी निष्णात थे, जैसा कि उनकी कृति **योगशास्त्र** से स्पष्ट है, और उन्होंने स्वयं ऐसे आध्यात्मिक प्रयोग किये थे, ऐसा भी प्रतीत होता है, क्योंकि उनका वर्णन वे निजी अनुभव के आधार पर ही करते हैं [देखो टिप्पण ८०)। जिस शैव धर्म को उसके पूर्वज एक अज्ञात समय से मानते आ रहे थे, उससे छुड़ा कर जैन धर्म में जिसका कि प्रचार और प्रभाव गुजरात में बहुत फैला हुआ था और जिसको बहुत वर्षों से वहाँ मान सम्मान मिल रहा था, राजा को दीक्षित कराने के लिए एक असाधारण चतुर धर्म-प्रवर्तक के लिए आवश्यक सभी परिस्थितियाँ उपस्थित थीं।[७७] जैसा कि उनकी कृतियों से प्रकट है, हेमचन्द्र में चतुराई की कोई कमी नहीं थी। उन्होंने प्रारम्भ भी बड़ी सावधानी से किया और, जैसा कि, प्रबन्धों में वर्णित है, जब भी संभव हुआ जैन सिद्धान्तों और सनातन वैदिक मान्यताओं में एकता और सामंजस्य पर ही उन्होंने जोर दिया। **कुमारपालचरित्र** के पृ. १२४ एवम् आगे के पृष्ठों में लम्बी देशनाएं विस्तार-पूर्वक विशेषरूप से दी गई हैं, जिनमें हेमचन्द्र ने जिन, शिव और विष्णु की अभिन्नता सिद्ध करने की चेष्टा की है और अहिंसा के सिद्धांत पर ब्राह्मणों के आकर-ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। ऐसे विवरणों पर कितना भी

कम विश्वास करे, फिर भी उनसे यह स्पष्ट रूप से प्रकट हो ही जाता है कि हेमचन्द्र किस पद्धति से अपने कार्य की साधना कर रहे थे। **योगशास्त्र** की स्वोपज्ञ वृत्ति में उन्होंने जैन सिद्धांतों के समर्थन में अन्य उद्धरणों के साथ-साथ ब्राह्मण शास्त्रों से भी यह कहते हुए उद्धरण दिये हैं कि "मिथ्या दर्शन में विश्वास करने वाले भी ऐसा कहते हैं" और मूल ग्रन्थ (प्रकाश ३ श्लोक २१-२६) में भी मांसाहार के विरुद्ध मनु के शब्द उसीके नाम से उद्धृत किये हैं। परन्तु ब्राह्मण देव और जिनदेव एक ही हैं ऐसा इनके ग्रन्थों से आशय नहीं निकलता है। इतना होते हुए भी यह बहुत संभव है कि अपने व्याख्यानों और उपदेशों में इन देवों का वे अवश्य उपयोग करते थे। बारहवीं शती में यह एक सामान्य बात थी। अल्हण और केल्हण के वि. सं. १२१८ के नाडोल के दानपत्र के मंगलाचरण में हम पढ़ते हैं कि—

"[हमें] ब्रह्मा, श्रीधर और शंकर परमात्मा भी मोक्ष प्रदान करें, जो सदा विषयों के त्याग के कारण संसार में जिन ही कहलाते हैं।"

फिर भी हेमचन्द्र का प्रयत्न बड़ा ही कष्टकर था और उन्हें सफलता भी इतनी शीघ्र नहीं मिली थी, जैसा कि **महावीरचरित्र** के उपर्युक्त उद्धरणों की अति यथार्थ व्याख्या से अनुमान किया जा सकता है। जैसा कि प्रबन्धों में कहा गया है, यह विशेषरूप से संभव है कि विरोधी शक्तियों द्वारा हेमचन्द्र को अपने काम में निरन्तर रुकावटें हुईं और राजा पर उनके प्रभाव को मिटाने के लिए सभी ब्राह्मण कटिबद्ध थे और सर्वतोपरि वे राजा के धर्म परिवर्तन को तो रोकना ही चाहते थे। मेरुतुंग की उपरोक्त दंतकथा, जिसमें कि दुष्ट और ईर्ष्यालु लोगों द्वारा हेमचन्द्र के विरुद्ध जाल बिछाने की बात कही गयी है, उस समय की सामान्य स्थिति ठीक ठीक प्रदर्शित करती है चाहे उसके विवरण से कोई पूर्ण सहमत न हो। इसी प्रकार जिनमण्डन की कथा भी, जहां कि ऐसा कहा गया है कि **राजाचार्य देवबोधि**, राजा का धर्मगुरु, पुराने धर्म का झंडा उठाता है, किसी ऐतिहासिक आधार पर आधारित हो सकती है, हांलाकि जिस स्थान पर वह कही गई है वहां तो यह बिलकुल ही पौराणिक या काल्पनिक सी लगती है[७८]। हो सकता है कि बिना कठिन संघर्ष के घटना बनी ही न हो। जैसा कि प्रबन्धों में कहा गया है, कुमारपाल को अपने नये धर्म में दृढ़ रखने में

उपरोक्त योगशास्त्र निःसंदेह विशेष रूप से सफल रहा था[79]। इसकी रचना हेमचन्द्र ने अपने कृपापात्र के आदेश से ही की थी[80]। उसके अन्तिम प्रकाश १२ श्लोक ५५ में कहा गया है कि—

'योग का यह पवित्र गूढ़ सिद्धान्त जो पवित्र शास्त्र से, कुछ यहां से और कुछ वहा से, और अच्छे गुरु के मुंह से सुनकर सीखा है और जिसका स्वयम् अनुभव किया है और जो विद्वान् जनता में आश्चर्य उत्पन्न करने जैसा है, उसे चौलुक्य राजा कुमारपाल की दृढ़ प्रार्थना के परिणाम से गुरु हेमचन्द्र ने शब्दों में गूथा है।'

यही बात इस ग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति के अन्तिम दो श्लोकों में इस प्रकार कही गई है।

१. श्री चौलुक्य राजा ने मुझ से विज्ञप्ति की, इसलिए मैंने योगशास्त्र पर तत्त्वज्ञानरूपी अमृत के समुद्र में से यह वृत्ति या टीका लिखी है। जब तक तीन लोक, स्वर्ग, पृथ्वी और आकाश जैन धर्म के सिद्धांत को टिकाये रहें, तब तक यह भी स्थायी हो।

२. इस योगशास्त्र की और इस टीका की रचना से मैंने यदि पुण्योपार्जन किया हो, तो जिनदेव का प्रकाश प्राप्त करने में सज्जन शक्तिमान हों।

इस ग्रन्थ के बारहों प्रकाशों की पूर्णाहुति में भी यही कहा गया है कि कुमारपाल इसका श्रवण करना चाहते थे और राज्य की ओर से इसका सम्मान किया गया था [संजातपट्टबन्धः]। इसके पहले चार प्रकाश जो प्रकाशित किये जा चुके हैं और जो समस्त ग्रन्थ के तीन-चतुर्थांश से कुछ अधिक के हैं, जैन श्रावक के कर्तव्यों का संक्षेप में विवेचन करते हैं और इसकी अति विस्तृत टीका में उनको स्पष्टतम समझाने की दृष्टि से ऐसा विस्तार किया है कि जैसा पहले कभी नहीं किया गया था। लेखक स्पष्ट रूप से बता देता है कि यह भाग अपने राजा को धर्म की शिक्षा देने की दृष्टि से ही लिखा गया है, क्योंकि टीका में उन्होंने जैन राजा के कर्तव्यों का विशेष रूप से और विस्तार के साथ कई बार विवेचन किया है। अन्तिम आठ प्रकाशों में योग और यौगिक प्रक्रियाओं का विवेचन है, जिनसे अन्त में मोक्ष या मुक्ति प्राप्त होती है। इस भाग का, जिसके कारण इसका नाम योगशास्त्र रखा गया है,

विवेचन बहुत ही संक्षेप में है और सारी टीका का दसवाँ भाग ही उसमें है। यह भी द्रष्टव्य है कि जैनयोग से पहले इन प्रक्रियाओं का अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया गया है। योगशास्त्रकार के मत से ये प्रक्रियाएं मुक्ति या मोक्ष-प्राप्ति के लिए व्यर्थ हैं। परन्तु इनसे भविष्य का ज्ञान और असाधारण दैवी शक्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसा लगता है कि स्वयम् हेमचन्द्र इनकी सार्थकता में विश्वास करते थे और कदाचित् इनका प्रयोग भी करते थे। यदि इनके वर्णन के लिए अपने ग्रन्थ में वे एक लंबे अध्याय जितना स्थान देते हैं, तो इसका कारण यही है कि राजा को ये योग प्रक्रियाएँ अत्यन्त प्रिय थी। प्रकाश बारह श्लोक २५ की टीका में ऐसा वे कहते भी है। उनका **वीतरागस्तोत्र** जिसकी रचना भी कुमारपाल के लिए ही, और कदाचित् योगशास्त्र के पहले, की गई थी, इतना महत्त्व प्राप्त नहीं कर सका। उस स्तोत्र में भी जैन सिद्धान्तों का जिनराज की प्रशस्ति के व्याज से संक्षेप में वर्णन है[८०]। **योगशास्त्र और वीतरागस्तोत्र** दोनों के मूल पाठ वि. सं. १२१६ के तुरत बाद ही लिखे गये ऐसा प्रतीत होता है। दूसरी ओर योगशास्त्र की स्वोपज्ञ टीका का कुछ वर्ष बाद सम्पूर्ण होना संभव है। उसका इतने विस्तार से लिखा जाना ही हमें यह मानने को बाध्य करता है कि हेमचन्द्र ने इसके लिखने में बहुत समय लगाया होगा, हालांकि वे बहुत ही परिश्रमी थे और ग्रन्थ-रचना में अपने शिष्यों की सहायता भी लेते थे।

अध्याय सातवां

कुमारपाल द्वारा जैन धर्म स्वीकारने के परिणाम

कुमारपाल के जैन धर्म स्वीकारने से हेमचन्द्र ने व्यावहारिक लाभ क्या उठाया, इस प्रश्न का बहुत ही स्पष्ट उत्तर **द्व्याश्रयकाव्य** में दी गई उपरोक्त सूचना [पृ. २६] के सिवा **महावीरचरित्र** की भविष्यवाणी, देती है। कुमारपाल के धर्म-परिवर्तन का वर्णन करने के पश्चात वह भविष्य-वाणी कहती है :

५९. वह कुमारपाल भात [चावल], हरी शाकसब्जी, फल, और अन्य आहारादि सम्बन्धी व्रत या नियम सदा रखेगा और सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य पालेगा।

६० यह प्राज्ञ व्यक्ति न केवल वारविलासिनियों से ही दूर रहेगा, अपितु अपनी नियमपूर्वक विवाहिता पत्नियों को भी ब्रह्मचर्य पालन का उपदेश देगा।

६१. हेमचन्द्र के उपदेशानुसार वह राजा धर्म के मुख्यतत्व जानेगा। जीव, अजीव के विभाग समझेगा और गुरु की भाँति ही इस ज्ञान का प्रकाश दूसरों को भी देगा।

६२ पाण्डुरंग सम्प्रदाय के ब्राह्मण स्वयम् और अन्य जो अर्हत् की निन्दा करते हैं, वे सब उसके आदेश से इस धर्म में जन्मे हुओं की तरह ही वरतेंगे।

६३. धर्म ज्ञान विचक्षण यह मनुष्य श्रावक के व्रत ले लेने पर, बिना जिन-मन्दिर में पूजा किये और जैन साधु का वंदन किये, कभी भोजन नहीं करेगा।

६४. वह उन मृतकों की धन-सम्पत्ति भी नहीं लेगा जो निःसन्तान मरेंगे। यह अन्तरज्ञान का परिणाम है। जिनको अंतरज्ञान नहीं होता है, वे ही असंतुष्ट रहते हैं।

६५. वह स्वयं शिकार करना त्याग देगा, जिसको कि पाण्डवों और प्राचीन काल के अन्य धर्मनिष्ठ राजाओं तक ने नहीं त्यागा था। और उसके आदेश से अन्य भी सब शिकार करना त्याग देंगे।

६६. किसी भी जीवित प्राणी को सताने की मनाई कर देने के कारण शिकार या इसी प्रकार का और कोई विचार नहीं किया जायेगा। नीच से नीच कुल में जन्म लेनेवाला व्यक्ति भी खटमल, जूं और ऐसे ही अन्य जीवों तक को नहीं मारेगा।

६७. उसके मृगया बंद कर देने के पश्चात् सभी प्रकार के शिकारी जन्तु जंगलों में उसी प्रकार निर्भयता से जुगाली करेंगे जैसे कि गायें गोशाला में किया करती हैं।

६८. वह राजा जो शक्ति में इन्द्र के समान होगा, सब जीवों के सरक्षण का चाहे वे जलचर, थलचर या नभचर हो, सदा आग्रह खूब ही रखेगा।

६९. ये जन्तु भी, जो जन्म से ही माँस-भक्षी हैं, उसके आदेश के परिणाम-स्वरूप मांस का नाम तक लेना बुरे स्वप्न की तरह भूल जायेंगे।

७०. जिस मद्यपान का जिन धर्म को मानने वाले दशार्हों तक ने भी त्याग नहीं किया था, उसका त्याग इस पवित्र आत्मा वाले राजा द्वारा सर्वत्र करा दिया जायेगा।

७१ मदिरा का बनाना विश्व भर में इतनी पूर्णता से बन्द कर दिया जायेगा कि कुम्हार तक फिर मद्यभांड नहीं बनाया करेंगे।

७२. मद्यपी जो मदिरासक्ति के कारण भिखारी हो गये हैं, उसके आदेशानुसार मद्यत्याग कर फिर से सम्पन्न हो जायेंगे।

७३. जिस द्यूत को नल आदि राजा तक नहीं छोड़ सके थे, उस द्यूत का नाम तक भी शत्रु की भाँति वह निःशेष कर देगा।

७४. जब तक उसका प्रतापी राज्य रहेगा, तब तक कबूतर-दौड़, और मुर्गों की लड़ाई नहीं होगी।

७५. वह राजा जिसकी कि सम्पत्ति अपरिमित होगी, प्रत्येक गाँव की भूमि को जिन-मंदिरों से विभूषित कर देगा।

७६ समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वी के प्रत्येक गाँव और प्रत्येक नगर में अर्हत की प्रतिमा को रथ में विराजित कर रथयात्रा महोत्सव करायेगा।

७७. निरंतर दान करते रहने और प्रत्येक का ऋण परिशोध कर देने पर वह इस पृथ्वी पर अपना संवत चलायेगा।

७८. अपने गुरु द्वारा कहे गये व्याख्यान में, भूमि में दबी कपिल केवली द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति संबंधी बात वह एक बार सुनेगा।

७९. तब उसे ऐसी इच्छा होगी कि मैं उस बालुकामयी भूमि को खुदाऊँगा और उस महाकल्याणकारी प्रतिष्ठित प्रतिमा को यहाँ मंगाऊँगा।

८०. जब राजा को अपने इस असीम उत्साह का पता चलेगा और उसे दूसरे सौभाग्य चिह्नों का भी ज्ञान होगा, तो उसे विश्वास हो जाएगा कि उक्त मूर्ति उसे प्राप्त हो जायेगी।

८१. अपने गुरु से आज्ञा लेकर वह अपने राज्याधिकारियों को बीतमय नगर के उस स्थान की खुदाई करने की आज्ञा देगा।

८२. अर्हन् की भक्ति में निःशंक राजा की पवित्रता के परिणाम स्वरूप, शासन रक्षिका देवी प्रकट होगी।

८३. राजा कुमारपाल के असाधारण पुण्यों के प्रभाव से स्थान के खोदे जाने पर वह मूर्ति शीघ्र ही प्रकट होगी।

८४ इस मूर्ति को जिन गांवों की भेंट उदयन ने की थी, वे भी तभी प्रकाश में आयेंगे।

८५. राजा के अधिकारी उस प्राचीन मूर्ति को एक रथ में विराजमान करेंगे और नवीन मूर्ति की तरह ही उसका शास्त्रानुसार मान करेंगे।

८६. मार्ग में इस प्रतिमा की अनेक प्रकार से पूजा की जाएगी और रात दिन अप्रतिबद्ध गानवाद्य किये जायेंगे।

८७. ग्राम नारियाँ जोर-जोर से ताली बजा-बजा कर अपना हर्ष प्रकट करेंगी और पाँच प्रकार के बाजे भी आनन्द पूर्वक बजाये जायेंगे।

८८. दोनों तरफ चमर ढोलते हुए अधिकारीगण इस पवित्र मूर्ति को पट्टण की सीमा तक ले आयेंगे।

८९. अपने महल की स्त्रियों और कर्मचारियों से परिवेष्टित और अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ राजा समस्त संघ के साथ स्वागत के लिए प्रस्थान करेगा।

९०. रथ से उतर कर राजा गज पर बैठ कर स्वयं इस मूर्ति का नगर में प्रवेश करायेगा।

९१. अपने राजमहल के निकट के उद्यान में स्थापित कर, राजा कुमारपाल प्रातः, सायं और मध्याह्न तीनों काल शास्त्रानुकूल सेवा करेगा।

९२. उदयन द्वारा मूर्ति को की गई भेंट के दानपत्र को पढ़ने के पश्चात् राजा उसका फिर से समर्थन कर देगा।

९३. हे राजपुत्र ! खालिस सोने का बनाया हुआ वह मंदिर उसकी अविश्वसनीय वैभव-सम्पत्ति के कारण समस्त संसार को आश्चर्य-चकित कर देगा।

९४. उस मंदिर में मूर्ति के प्रतिष्ठापित हो जाने पर राजा बल में, धन में और उत्कृष्ट सुख में वृद्धि प्राप्त करेगा।

९५. अपनी देव भक्ति और गुरु भक्ति के कारण, हे अभय ! तेरे पिता के समान ही राजा कुमारपाल इस भारतभूमि में होगा।

अब यदि हम इस वर्णन का द्व्याश्रयकाव्य[८१] के वर्णन से मिलान करें, तो मालूम होगा कि राजा कुमारपाल ने कितनी ही बातों में गुजरात को, एक आदर्श जैन राज्य बनाने का प्रयत्न किया था। उसने न केवल अपने ही लिए, जैन श्रावक को वर्ज्य मौज-शौक वर्जित कर दिया था, अपितु अपनी प्रजा को भी उसने उसी प्रकार के त्याग करने की प्रेरणा दी। उसने यह आदेश जारी किया कि पशुओं की रक्षा हर प्रकार से की जाये और बड़ी दृढ़ता के साथ साम्राज्य के सभी भागों में उसका पालन भी करवाया। जो ब्राह्मण यज्ञों में आहुति के लिए पशुवध करते, उन्हें भी, जैसा कि **द्व्याश्रयकाव्य** में लिखा है, पशुवध छोड़ देना पड़ा और वे मांस के स्थान पर धान की आहुति देने लगे। राजपूताना के पल्ली देश में भी इस आदेश का सबको पालन करना पड़ता था। उस देश के संन्यासी ऋषियों को, जो मृगचर्म पहनते थे, उसे प्राप्त करने में कठिनाई होने लगी। **महावीरचरित्र** में कहा गया है कि इसी कारण पाण्डुरंग शैवायत और अन्य ब्राह्मण भी जन्म-जात श्रावक की भांति हो रहने को बाध्य हुए। शिकार का प्रतिबन्ध, जैसा कि **महावीरचरित्र** में कहा गया है, इस फरमान का स्वाभाविक परिणाम था और **द्व्याश्रय** के अनुसार पांचाल देश अर्थात् मध्य

काठियावाड़ के निवासी भी जो इस विषय में महान् अपराधी थे, इस आज्ञा को सर झुकाने को बाध्य हुए थे। द्व्याश्रयकाव्य के अनुसार इसका प्रभाव कसाइयों पर यह पड़ा कि उन्हें अपना यह व्यवसाय ही छोड़ देना पड़ा परन्तु तीन वर्ष की आय जितना धन एक मुश्त उन्हें क्षतिपूर्ति के रूप में मिल गया। **महावीरचरित्र के अनुसार** यह जीव-रक्षा हानिकारक और उपद्रवी जीवों तक भी व्यापक थी। यदि मेरुतुंग का हम विश्वास करें तो यह विवरण बिलकुल ही अतिशयोक्तिवाला नहीं है क्योंकि वह **यूकाविहार प्रबन्ध**[६३] मे कहता है कि सपादलक्ष के एक मूर्ख व्यापारी को, जिसने रगड़ कर एक जूं मार दी थी, जीवरक्षा नियम के प्रतिपालक अधिकारी अनहिलवाड़ के न्यायालय में लाये और दण्ड स्वरूप में अपना समस्त धन खर्च करके उसको यूकाविहार निर्माण करा देना पड़ा था। यह दण्ड अपराध की दृष्टि से चाहे अधिक ही कहा जाये, परन्तु **प्रभावकचरित्र** के अनुसार, नाड्ूल-नाडोल के राजा का पीकदान उठाने वाले लक्ष को दिये गये दण्ड की अपेक्षा फिर भी दयामय ही कहा जायेगा। इस लक्ष ने अनहिलवाड़ के लोकालोक चैत्य मे ताजे मांस का भरा एक थाल चढाया था। जब यह पता लगा तो उसको मृत्यु का दण्ड दे दिया गया।

मांसाहार के वजन के साथ साथ मदिरा या मादक द्रवों के पेय का भी, जैन श्रावक के दूसरे गुणव्रत के अनुसार, निषेध किया गया। यही बात पासों से जुए [द्यूत] खेलना, पशुओं का लड़ाना और उन पर बाजी लगाना, जिनकी तीसरे गुणव्रत में निंदा की गई है, बंद कर दिये गये। इन दोनों विषयों के फरमानों के विषय में **द्व्याश्रयकाव्य** में कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु प्रबन्धों में इनका उल्लेख हुआ है[६४]। जैसा कि मेरुतुंग की उपरोक्त कथा में कहा गया है और जिसका जिनमण्डन भी स्पष्टतः समर्थन करता है, कुमारपाल ने अपने फरमानों का प्रतिपालन कराने को विशेष अधिकारी नियुक्त किये थे। जैन संघ के लिए बड़े ही महत्व का अंतिम फरमान यह था कि निःसंतान मरनेवाले की धनसम्पत्ति राज में जमा न की जाकर उसकी विधवाओं के लिए छोड़ दी जाय। ऐसा मालूम पड़ता है कि यह क्रूर नियम, जो कि स्मृतियों के नियम के विरुद्ध भी जाता है, कई प्रान्तों और विशेष रूप से पश्चिमी भारत के प्रान्तों में प्राचीन समय से ही चला आता था। कालिदास भी, जिसका कि घर गुजरात

की सीमा से लगा हुआ मालवा प्रान्त था, इस क्रूर नियम से परिचित था और उसने इसका वर्णन **अभिज्ञान शाकुन्तल** में किया भी है। वहां राजा दुष्यन्त को उसका अमात्य सूचना देता है कि जहाज टूट जाने से सार्थवाह धनवृद्धि (अनपत्य) मर गया है, उसका प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी कोई नहीं है, इसलिए उसकी करोड़ों की सम्पत्ति राजकोश में जमा कर ली जानी चाहिए। दुष्यन्त, जो स्वयं निःसंतान होने के कारण करुणार्द्रचित्त था, प्रथमतः घोषणा करता है कि मैं वह सब धन मृत सार्थवाह की विधवा पत्नी के लिए छोड़ देता हूँ। परन्तु इस विषय का फिर से विचार करने पर वह इस प्रकार के धन-अपहरण किए जाने के नियम को फरमान द्वारा सदा सर्वदा के लिए बंद कर देता है। इस कथा की कल्पना कालिदास ने ही अपने अभिज्ञान शाकुन्तल में की है। शकुन्तला की प्राचीन गाथाओं में कहीं ऐसा कोई जिक्र नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निःसन्तान मरने वाले सेठों की धन सम्पत्ति के राजकोश में जमा करने की प्रथा ईसवी छठी शती में कालिदास की जन्म-भूमि में तो अवश्य ही प्रचलित थी। यह भी स्पष्ट विदित होता है कि यह प्रथा जैनों को, जो प्रायः व्यापार एवं वित्त-विनियोग (सराफा) से जीवन निर्वाह करने वाले ही थे, विशेष रूप से क्रूर लगती थी। पूर्वकाल के कट्टर सनातनी राजा लोग जैनों को पूर्णनास्तिक मानते हुए उनके साथ कोई भी रू-रिआयत नहीं बरतते होंगे। इसलिए यह सहज ही समझ में आ सकता है कि कुमारपाल के इस निर्णय का जैसा कि **द्वयाश्रय** में कहा गया है, असीम उत्साह पूर्वक स्वागत क्यों किया गया और न केवल प्रबन्धों में ही अपितु ब्राह्मण सोमेश्वर ने भी अपने ग्रन्थ **कीर्तिकौमुदी** में इतना यशोगान क्यों किया है?[८५]

इन बाध्यकर तरीकों के अलावा भी कुमारपाल ने, जिनमंदिरोंका निर्माण कराकर और उनके लिए कम-से-कम एक भूमि की भेंट दे कर और जैनधर्म को ब्राह्मण धर्मों के समकक्ष अधिकार देकर जैन धर्म के प्रति अपना उत्साह दिखा दिया। यह अन्तिम बात केवल **महावीरचरित्र** में ही कही गई है। वहाँ श्लोक ७६ में कहा गया है कि :—

"कुमारपाल ने अर्हत् प्रतिमा को रथ में विराजित कर रथयात्रा का महोत्सव सर्वत्र कराया।" इस वर्णन को हमें इस तरह समझना चाहिए कि राजा ने

स्वयं सर्वत्र रथयात्राएँ नहीं कराई थीं अपितु उसने सारे देश के छोटे-छोटे समाजों को ऐसी रथयात्राएँ निकालने की अनुमति दी। यह सहज समझ में आने वाली बात है कि देवों की रथयात्रा निकाले जाने के विषय में भारतीय जितने ईर्ष्यालु हैं, उतने और किसी भी विषय में नहीं हैं। बहुमतवादी अल्पमतवादियों की इन रथ-यात्राओं में यथासम्भव बाधा देते हैं और जैन तो विशेष रूप से अन्य धर्मों द्वारा दी जाने वाली ऐसी बाधा के शिकार हैं। इन वर्षों में भी दिल्ली में वैष्णवों और जैनों के बीच रथयात्रा को ले कर जो कि दिगम्बर निकालना चाहते थे, तीव्र संघर्ष हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि गुजरात के कट्टर सनातनी हिन्दू राजाओं के समय में वहाँ के श्वेताम्बर जैन भी अपनी मूर्तियाँ खुले स्थानों में प्रदर्शित नहीं कर सकते थे। कुमारपाल ही पहला राजा था, जिसने उन्हें ऐसा अधिकार प्रदान किया, और यदि यह बात स्वीकार कर ली जाये तो **महावीरचरित्र** का यह कथन कि प्रत्येक गाँव में रथयात्रा महोत्सव मनाया गया, अविश्वस्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गुजरात के प्रत्येक गाँव में व्यापारियों और साहूकारों का एक छोटा सा जैन संघ होता है। परन्तु मंदिर-निर्माण के सम्बन्ध में **द्वयाश्रयकाव्य** में दो हो मंदिरों के निर्माण की बात कही गई है, एक तो अनहिलवाड़ में **कुमारविहार** की और दूसरी देवपट्टनमें उतने ही महत्त्वशाली मंदिर की, दूसरा ओर **महावीरचरित्र** के श्लोक ७५ में यह कहा गया है कि "प्रायः प्रत्येक गाँव का अपना-अपना जिन-चैत्य था"। परन्तु नाम लेकर तो केवल अनहिलवाड़ के **कुमारविहार** के निर्माण का ही कहा गया है। 'प्रत्येक गाँव' का कथन स्वभावतः ही अतिशयोक्ति पूर्ण परंतु भविष्य कथन की शैली के सर्वथानुरूप है। **महावीरचरित्र** के वर्णन को हमें इसी तरह समझना चाहिए कि कुमारपाल ने कितने ही छोटे छोटे सार्वजनिक भवनादि बनाये थे, परन्तु वे इतने महत्त्व के नहीं थे कि उनका पृथक्-पृथक् नाम लेकर वर्णन किया जाता। परन्तु अनहिलवाड़ में उसने कुमारविहार नाम का अत्यन्त विशाल और भव्य मंदिर बनाया था। इस प्रकार की व्याख्या की सहायता से हम **महावीरचरित्र** में वर्णित मंदिरों की बात का **द्वयाश्रय** की बात से सामंजस्य तब बिठा सकते हैं, जब हम यह भी मान लें कि **द्वयाश्रय** केवल अति विख्यात भवनों की बात ही कहना चाहता है और यह कि वह **महा-**

वीरचरित्र के कुछ पश्चात् ही लिखा गया था। प्रबन्धों में भी ऐसे कितने ही मंदिरों का वर्णन है। **प्रभावकचरित्र** में सबसे पहले अनहिलवाड़ के **कुमार-विहार** का वर्णन है, जिसकी नींव उसके अनुसार वाग्भट्ट द्वारा डाली गई थी। तदनन्तर वह कहता है कि राजा ने अपने दाँतों के पाप के प्रायश्चित्त रूप ३२ छोटे छोटे विहार बनाये थे और अपने पिता त्रिभुवनपाल के बनाये मंदिर मे राजा ने नेमिनाथ की मूर्ति भी प्रतिष्ठित कराई थी। उसने एक मंदिर शत्रुंजय पहाड़ पर भी बनाया था और प्रत्येक प्रान्त में स्थान विशेषों [देशस्थानों] को भी जिन-चैत्यों से अलंकृत किया। इस ग्रन्थ के एक दम अन्त में **महावीरचरित्र** में वर्णित वीतमय-नगर के भग्नावशेषों से अर्हत् प्रतिमा-प्राप्ति की बात भी है[८६]।

मेरुतुंग की संख्या इससे भी अधिक है। पहले तो वह भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे बनाये गये १४४० मंदिरों की बात कहता है। फिर वह कहता है कि कुमारपाल ने शत्रुंजय के पास वाग्भट्टपुर में एक पार्श्वनाथ की मूर्ति त्रिभुवनपाल-विहार मंदिर में प्रतिष्ठित कराई, जो उसके पिता की स्मृति मे बनाया गया था। फिर प्रायश्चित्त रूप बनाये गये ३२ मदिरों और कुमारविहार की बात कही गई है हालां कि कुमारविहार के स्थापत्य का वर्णन बिल्कुल नहीं किया गया है। अन्त में नीचे लिखे चार मंदिरों का वहाँ वर्णन है :—

१. मूषकविहार—जब कुमारपाल जयसिंह से पीड़ित होकर भागा-भागा फिरता था, तब एक मूषक (चूहे) के एकत्रित खाद्यान्न भंडार की चोरी उसके द्वारा हो गई और वह मूषक निराश हो भूख से मर गया था। इस मूषक की मृत्यु के प्रायश्चित्त रूप कुमारपाल द्वारा यह मंदिर अनहिलवाड़ में बनाया गया था।

२. करम्बविहार—यह विहार अथवा मदिर उस अप्रसिद्ध स्त्री की स्मृति में बनवाया गया था जिसने कुमारपाल को उसकी भगोड़ दशा में भात [चावल] का भोजन कराया था।

३. दीक्षाविहार—खंभात की सालिग वसहिका के प्राचीन मंदिर का, जहाँ कि हेमचन्द्र की दीक्षा हुई थी, जीर्णोद्धार करवाया गया।

४. झोलिकाविहार अर्थात् पालणा मंदिर—हेमचन्द्र के जन्म-स्थान धंधुका में यह मंदिर कुमारपाल ने उस विशेष स्थान पर बनाया था, जहाँ हेमचन्द्र का जन्म हुआ था।

इन सब वृत्तों को यदि हम सत्य न मानें तो भी वे यह तो प्रमाणित करते ही हैं कि कुमारपाल के भवनादि निर्माणकार्य अनहिलवाड़ और देवपट्टन तक ही परिसीमित नहीं थे। वर्तमान दन्तकथाओं में भी उनकी स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। शत्रुंजय और गिरनार पर कुमारविहार आज भी बताये जाते हैं। परन्तु उनका जीर्णोद्धार कितनी ही बार कराया जा चुका होने से एवम् एक भी पुराना शिलालेख न मिलने से वे पहचाने नहीं जा सकते हैं। लोग कहते है कि खंभात और धंधुका में जिन स्थानों पर एक समय कुमारपाल के बनाए मंदिर थे, वे स्थान सबको परिचित हैं।

जैनों के लाभ की एवम् जैन धर्म की सेवा की इन विस्तृत प्रवृत्तियों के बावजूद भी कुमारपाल ने अपने पैत्रिक प्राचीन धर्म को बिलकुल ही नहीं भुला दिया था। **द्व्याश्रय** में प्राणी-संरक्षण विधान की घोषणा की और अनहिलवाड़ एवम् देवपट्टन में कुमारविहार बनवाने की बात कहने के बाद ही हेमचन्द्र ने स्वयम् उस ग्रन्थ में शिव-केदारनाथ और शिव-सोमनाथ के मंदिरों के जीर्णोद्धार की बात भी कही है, हालाँ कि ऐसा अनहिलवाड़ में **कुमारेश्वर** और देवपट्टन में मंदिर बनवाने के बाद हुआ था। **कुमारेश्वर** के मंदिर निर्माण के कारण कुछ विचित्र ही बताये गये है। हेमचन्द्र कहते हैं कि एक रात महादेव जी कुमारपाल को स्वप्न में प्रत्यक्ष हुए और सूचना की कि वह उसकी सेवाओं से संतुष्ट हैं और अनहिलवाड़ में ही रहना चाहते हैं। इनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हेमचन्द्र के प्रति असीम श्रद्धावान होने और जैनधर्म स्वीकार कर लेने के बावजूद, कुमारपाल ने शैव धर्मियों को सहायता करने से कभी इनकार नहीं किया। उसने उन्हें पशुबलि त्याग देने को बाध्य किया हो, परन्तु राजकोश से शैव मंदिरों के पुजारियों और संन्यासियों को वृत्ति प्राप्त होने ही दी। ऐसे भी अवसर आये हों कि जब वह शैव धर्म की ओर फिर आकर्षित हुआ हो और जिन एवम् शिव दोनों को ही उसने पूजा और मान दिया हो। इस प्रकार की धर्म-अस्थिरता और धर्म-मिश्रण भारतवर्ष में कोई असाधारण बात नहीं है। प्राचीन काल में ही वेदबाह्य धर्म स्वीकार करने वाले अन्य राजाओं के सम्बन्ध में भी ऐसी बातें कही गयी हैं। कन्नौज व थाणेश्वर के राजा हर्षवर्धन के बारे में कहा जाता है कि वह बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों को समान आदर

देता था। चीनी यात्री ह्यूएनत्सांग इसे आँखों देखी बात कहता है। ऐसे आचरण का कारण स्पष्ट है। राजदरबार में विरोधी धर्मवालों के साथ साथ सनातन धर्मी भी सदा ही रहते थे और इन सनातन धर्मियों का प्रभाव राजा पर बहुत रहता था। ऐसा ही अनहिलवाड़ में भी रहा होगा। क्योंकि, जैसा कि प्रबन्धों में उल्लेख है, कुमारपाल का अमात्य एक मात्र जैनी वाग्भट्ट ही नहीं था। एक अन्य मन्त्री कपर्दिन भी था जो धर्म से जैनी नहीं था। इसी प्रकार जैनधर्मी हो जाने के बाद भी कुमारपाल के धर्मगुरुओं में एक शैवगुरु देवबोधी था। वि. सं. १२१८ में रचित एक ग्रन्थ की प्रशस्ति में महामात्य यशोधवल का नाम प्रधानमंत्री रूप में दिया है। और चन्द्रावती के परमारवंशी इसी नाम के राजपुत्र को कुमारपाल ने मंत्री नियुक्त किया था ऐसा कहा गया है और वह बहुत करके यही होना चाहिए।[८८] राजा पर पुरानी आदतों के एवं शैव संन्यासियों के साथ के पुराने सम्बन्धों के कारण सनातनियों का प्रभाव स्वभावतया दृढ़ रहता था। फिर भारतीयों की यह प्रवृत्ति भी, कि वे धर्मों के प्रत्यक्ष विरोधों का समन्वय करके उन्हें मूल सत्य के ही भिन्न-भिन्न रूप मान लेते थे, इसकी पोषक थी। ऊपर बताया जा चुका है कि बारहवीं शती में त्रिमूर्ति के ब्राह्मण देवों का जिन देव के साथ ऐक्य भाव था और इस प्रकार की एकात्मता बताने का उपयोग कुमारपाल को जैनधर्म स्वीकार करवाने के प्रयत्नों की प्रारम्भिक अवस्था में स्वयम् हेमचन्द्र ने भी प्रायः किया था। इस लिए यह बिलकुल ही स्वाभाविक है कि उनका यह अनुयायी जैन हो जाने के बाद भी **जिन** के साथ शिव की पूजा करता रहा हो। हम यह भी मान सकते हैं कि हेमचन्द्र इस विषय में उससे पूर्ण सहमत रहे हों। नहीं तो वे अपने अनुयायी और आश्रयदाता द्वारा बनाये गये शिव मंदिरों की बात स्पष्ट रूप से क्यों करते ? चाहे जिस कारण से ऐसा हुआ हो, पर हेमचन्द्र ने कुमारपाल की शैव प्रवृत्तियों का ऐसा कोई दृढ़ विरोध नहीं किया होगा, इतना ही नहीं, अपितु अपने सारे प्रयत्नों को विफल न होने देने के लिए उन्होंने एक चतुर धर्म-प्रचारक की भाँति ऐसी बातों की उपेक्षा ही की होगी। इस मान्यता को इस बात से भी समर्थन मिलता है कि अपनी मृत्यु के ४ वर्ष पूर्व अर्थात् वि. सं. १२२५ या वल्लभी संवत् ८५० में भाव-बृहस्पति की प्रशंसा में देवपट्टन में लिखे गये लेख में कुमारपाल को शैव कहा गया है। इसमें उसके

जैन धर्म स्वीकार की कोई बात ही नहीं लिखी गई है। यही नहीं, उसने जो भाव-बृहस्पति व अन्य शैवों को दान पत्र दिये थे उनका भी उल्लेख है और उसकी पंक्ति ५० में उसे 'माहेश्वरनृपाग्रणि' अर्थात् शैव संप्रदाय का अनुसरण करने वाले राजाओं का अग्रणी कहा है। फिर निःसंदेह ऐसे अवसर भी प्राप्त थे जिससे शैव-पुजारी उसे अपने समाज का ही अंग बता सकते थे। यही नहीं, जैन उसे 'परमार्हत' का विरुद दे सकें, ऐसी भी तब परिस्थिति थी। इससे कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र को एक दम पूर्ण विजय प्राप्त नहीं हुई थी। परन्तु वे राजा को जैन बनाने में उतने तो सफल अवश्य ही हो गए थे, जितने कि कोई अन्य वेद-बाह्य धर्म-गुरु किसी राजा पर कभी हुआ हो। यह सत्य है कि वे कुमारपाल को शैव मत से एक दम विमुख नहीं कर सके थे, परन्तु अत्यन्त आवश्यक जैन व्रतों को निरन्तर पालने वाला तो वे अवश्य ही उसे बना सके थे और उसकी सरकार या राज्य-व्यवस्था को भी उन्होंने पर्याप्त प्रभावित किया था। हाँ, उस प्रकार का जैन प्रान्त-जैनराष्ट्र तब अवश्य ही गुजरात नहीं बन सका था जिसकी जनता का बहुतांश जैन धर्मानुयायी बन गया हो। इस धर्म का ऐसा महान् विस्तार इसलिए भी नहीं हो सकता था कि उसके सिद्धान्त और उसके नियम कृषि आदि जैसे जीवन के कितने ही अति उपयोगी व्यवसायों के प्रतिबन्धक थे। परन्तु पशुवध निषेधक, मादक पेय निषेधक और भाग्य के दाव लगाने और जुआ खेलने के निषेधक फरमान बड़ी सफलता पूर्वक पालन किये गये और इस तरह जैनधर्म के अत्यन्त आवश्यक सिद्धांत व नियम कुछ तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में बद्धमूल हो ही गए।

अध्याय आठवाँ

कुमारपाल के जैनी होने के पश्चात् की हेमचन्द्र की साहित्यिक कृतियाँ

अपने जीवन के अत्यन्त प्रभावशाली काल में भी, जब कि कुमारपाल की मित्रता में उनका बहुत सा समय व्यतीत होता था, हेमचन्द्र अपनी साहित्यिक आकांक्षा के प्रति पूर्ण निष्ठावान रहे थे। **योगशास्त्र** और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति के अतिरिक्त उन्होंने वि. सं. १२१६ और १२२९ के अन्तराल में **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** नाम का, जिसका कि परिचय पहले दिया जा चुका है, संत पुरुषों के चरित्रों का संग्रह ग्रन्थ तैयार किया। इसमें अत्युत्तम ६३ महापुरुषों के जीवन-चरित्र हैं। इसके दस पूर्वों में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ विष्णुद्विष अर्थात् विष्णु अवतार के द्वेषियों के चरित्र हैं। इसके परिशिष्ट में, जिसका नाम **परिशिष्ट पर्व** या **स्थविरावलि** है, उन दश पूर्वियों की अर्थात् जम्बूस्वामी से लेकर वज्र स्वामी तक के प्राचीन जैनाचार्यों की जीवन कथाए दी गई हैं, जिन्हें पूर्वों का ज्ञान था। सारे ग्रन्थ की रचना अनुष्टुप छंद में है और रचयिता ने सारे ग्रन्थ को महाकाव्य कहा है। इसका विस्तार बहुत बड़ा है। इतना कि इसकी महाभारत से तुलना करने की अभिमानपूर्ण बात किसी अंश में ठीक कही जा सकती है। इसका पर्वों में विभाजन किया गया है। जिनमण्डन के कथनानुसार इसमें ३६, ००० अनुष्टुप श्लोक हैं[८९]। यह **योगशास्त्र** के बाद की रचना है, क्योंकि उसको सोपज्ञ वृत्ति में इसका कोई भी संदर्भ या उल्लेख नहीं किया गया है। दूसरी ओर ३-१३१ के टिप्पण में स्थूलिभद्र स्वामी का चरित्र परिशिष्ट पर्व ८, २-१९० और ९, ५५-१११ अ के ही शब्दों में दिया गया है। केवल प्रास्ताविक श्लोक ही यहाँ भिन्न हैं। जहाँ तहाँ पाठ-भेद भी पाया जाता है। परंतु उससे आशय में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। इससे स्पष्ट है कि ये विशेष पाठ योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति से ज्यों के त्यों परिशिष्ट पर्व में ले लिये गये हैं। **त्रिषष्टिशलाकापुरुष-**

चरित्र की रचना **द्वयाश्रयकाव्य** के पहले हुई थी। संपूर्ण काव्य के पहले नहीं हुई हो, तो कम-से-कम उसके अन्तिम पाँच सर्गों के पहले तो अवश्य ही हुई थी। क्योंकि मेरुतुंग कहता है कि इस काव्य में जयसिंह सिद्धराज की बिजयों का ही मूलतः कीर्तन किया गया था। और यदि यह बात हम स्वीकार करते हैं तो इसका समाप्ति का अंश पीछे से जोड़ा हुआ ही होना चाहिये। **द्वयाश्रयकाव्य** में कुमारपाल का चरित्र **महावीरचरित्र** में वर्णित चरित्र से कुछ आगे जाता है, क्योंकि उसमें जैसा कि पृष्ठ में दिखाया जा चुका है, देवपट्टन के पार्श्वनाथ के भव्य मंदिर का वर्णन भी है, यद्यपि **महावीरचरित्र** इस बारे में कुछ नहीं कहता है, फिर भी वह उससे कुछ पहले के अनहिलवाड़ के कुमारविहार के निर्माण की परिस्थिति का पूर्ण विवरण तो दे ही देता है। फिर संस्कृत **द्वयाश्रय** का अनुगामी है प्राकृत **द्वयाश्रय या कुमारपाल-चरिय**। यह कुमारपाल का चरित्र कहने और जिनों के प्रति उसकी श्रद्धा तथा भक्ति की प्रशंसा करने वाला एक बहुत छोटा काव्य ही है। परन्तु इसी व्याज से इसमें प्राकृत व्याकरण के नियमों के उदाहरण भी दिये हुए हैं और यह इसकी एक द्रष्टव्य विशेषता है[९०]। **अभिधानचिंतामणि** की वृत्ति कदाचित् इस अन्तिम काल की अन्तिम साहित्यिक रचना थी। इस रचना में **योगशास्त्र** और **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** भी उद्धृत किये गये हैं। इससे सिद्ध है कि इसकी रचना वि सं. १२१६ से बाद के काल में हुई, इतना ही नहीं, यह भी कि लेखक के जीवन के अन्तिम वर्षों में ही यह लिखा गया था। एक दूसरी बात से भी यह प्रमाणित होता है कि लेखक की यही अन्तिम रचना है। पर्यायवाची कोश **'अभिधान चिंतामणि' से** निकट संबन्धित है समानार्थवाची **'अनेकार्थकोश'** जो पूर्वकोश का ही सम्पूरक है[९१]। फिर इसकी **अनेकान्तकैरवाकार कौमुदी** नाम की एक वृत्ति भी प्राप्त है। यह हेमचन्द्र की रचना नहीं है, अपितु उसके शिष्य महेन्द्र की है, जिसे अपने गुरु के नाम से उनकी मृत्यु के पश्चात् ही उसने लिखा था। यह बात अन्त में दी गयी उसकी प्रशस्ति में कही गयी है। ग्रन्थ के अन्त की प्रशस्ति में कहा गया है कि[९२]—

१. 'सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र के विनेय शिष्य महेन्द्रसूरि ने यह टीका अपने गुरु के नाम से लिखी।

२. 'असाधारण सुविधाओं से अन्वित, ज्ञान और पूर्णता के भण्डार सुप्रसिद्ध गुरु हेमचन्द्र की कृति पर विवरण लिखने की शक्ति मुझ जैसे निर्भागी में कहाँ से प्राप्त हो ? फिर भी मैंने उस पर वृत्ति लिखी है तो उसमें नवीनता जैसी कोई बात नहीं है क्योंकि वे महान गुरु मेरे हृदय में वास करते हैं और उनके मुख से सुने विवरण का ही मैंने यहाँ पुनरावर्तन किया है।'

इन अन्तिम शब्दों से प्रकट है कि जब महेन्द्र ने यह वृत्ति लिखी, हेमचन्द्र का निधन हो गया था और महेन्द्र ने मृत गुरु की भक्ति वश उनके मौखिक विवरण को लिपिबद्ध करके पुस्तक रूप में उनके नाम से प्रकाशित कर दिया। संभव है कि हेमचन्द्र ने स्वयम् ही अपने कोश के इस द्वितीय भाग पर वृत्ति लिखने का सोचा हो, परन्तु इस सकल्प की पूर्ति करने के पहले ही वे दिवंगत हो गये ऐसा लगता है। इसलिए यह धारणा होती है कि पहले भाग की टीका उनकी मृत्यु के पूर्व ही समाप्त हो गयी थी। यहाँ यह फिर से कह देना उचित है कि [देखो पृ. २९-३०] यदि **अभिधानचिंतामणि** की टीका में ही **शेषाख्या-नाममाला** पहले से सम्मिलित थी तो वह भी इसी अन्तिम काल की रचना होनी चाहिए। इस कथन का समर्थन इस बात से भी होता है कि योगशास्त्र की वृत्ति में इसी तरह से मूल के संपूरक रूप से कुछ श्लोक पाये जाते हैं। [टिप्पण ८०] परन्तु इसका निश्चित उत्तर तो हमें कोश की ताड़पत्रीय प्रति का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ही मिल सकता है। **प्रभावकचरित्र** में जिस जैन न्यायके ग्रन्थ को **प्रमाणमीमांसा** और अन्य प्रतियों मे **स्याद्वादमंजरी** कहा गया है, उसके रचना काल के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक मैं कुछ नहीं कह सकता,[९३] क्योंकि उसका योगशास्त्र की टीका में कोई उल्लेख नहीं है। इसलिए यह वि. सं. १२१६ से १२२९ के अन्तराल की रचनाओं में से ही एक हो सकती है। इसके साथ ही हेमचन्द्र की कृतियों की सूची समाप्त हो जाती है। **प्रभाव-कचरित्र** का लेखक कहता है कि उस जैसे सामान्य लेखक [टिप्पण ७४] उस महान् गुरु की समस्त कृतियों को नहीं जानते परन्तु राजशेखर तो डके की चोट कहता है कि हेमचन्द्र ने ३ करोड़ श्लोकों की रचना की थी। पट्टावलियों अथवा गुर्वावलियों में बहुधा ऐसा ही कहा गया है, परन्तु यह प्रत्यक्षतया एक असंभव अतिशयोक्ति है। अभी तक उपर्युक्त से अधिक रचनाओं का रचयिता

हेमचन्द्र को कहने का कोई प्रमाण नहीं मिला है और इन रचनाओं में एक लाख के लगभग ही श्लोक हैं। इस विषय में यह विशेष रूप से स्मरण रखना चाहिए कि खंभात, जैसलमेर और अनहिलवाड़ के प्राचीन भण्डारों की सूक्ष्म छान-बीन भी **प्रभावकचरित्र** में लिखी सूची से अधिक ग्रन्थों का पता नहीं बता सकी है।

हेमचन्द्र लेखक के रूप से जितने उपयोगी थे, उससे कम उपयोगी वे गुरु रूप में भी नहीं रहे थे। उनका पुराना और अति प्रसिद्ध शिष्य था एकाक्षी **रामचन्द्र** जिसका वर्णन पहले ही पृष्ठ ३२ में किया जा चुका है। प्रबन्धों में उसके विषय में कहा गया है कि उसने एक सौ ग्रन्थ लिखे थे। पिछले कुछ ही वर्षों में उसके लिखे दो नाटक **रघुविलाप** और **निर्भयभीम** खोज में मिले हैं। पिछले नाटक के अन्त में अपना नाम देते हुए रामचन्द्र ने अपने को **शत-प्रबन्धकर्तृ** अर्थात् सौ प्रबन्धों का लेखक कहा है। उसके अतिरिक्त प्रबन्धों में कितने ही स्थानों पर गुणचन्द्र, यशश्चन्द्र, बालचन्द्र और उदयचन्द्र के भी नाम दिये गये हैं, जिनमें से अन्तिम शिष्य का नाम व्याकरण की **बृहद्वृत्ति** की टीका की प्रशस्ति में भी आया है [टिप्पण ३४]। **अनेकार्थकोश** की टीका की प्रशस्ति से महेन्द्र नाम के छठे शिष्य का अस्तित्व, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, भी प्रमाणित होता है। और **कुमारविहार** प्रशस्ति में एक सातवें शिष्य वर्धमानगणि का नाम भी मिलता है। आज की परम्परा उनकी इतनी छोटी शिष्य संपदा से सन्तुष्ट नहीं है। अनहिलवाड़ में स्याही में रंगे एक पत्थर को लोग बताते और कहते है कि हेमचन्द्र का आसन अर्थात् तकिया इस पर रहता था। जैन लोग कहते हैं कि १०० शिष्यों का परिवार उन्हें नित्य घेरे रहता था और जो ग्रन्थ गुरु लिखाते थे, उनको वह लिख लिया करता था।

अध्याय नौवाँ

हेमचन्द्र तथा कुमारपाल का समागम और उनके अन्त से सम्बन्धित कथाएं

कुमारपाल द्वारा जैनधर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात्, हेमचन्द्र की प्रवृत्तियों के विवरण के अतिरिक्त प्रबन्ध ग्रन्थों में अनेक ऐसी कथाएं हैं जिनमें हेमचन्द्र और कुमारपाल के समागम और कुछ अन्य विषयों का वर्णन है। ये कहानियाँ अधिकांशतया ऐतिहासिक रूप से तथ्यहीन है। फिर भी इस ग्रन्थ की परिपूर्णता की दृष्टि से यहाँ संक्षेप में उन्हें उद्धृत किया जारहा है। **प्रभावकचरित्र** में केवल ५ कथाएं दी हैं। मेरुतुंग ने १६ कहानियाँ दी हैं और राजशेखरने इस संख्या में भी कुछ वृद्धि कर दी है। जिनमण्डन उनमें कुछ और जोड़ देता है। यही नहीं, अपितु वह कथाओं को अधिक आलंकारिक रूप भी देता है और साथ ही वह पुरानी बात को कुछ ओजस्वी भी बना देता है। विषयों की दृष्टि से इन कथाओं के दो मुख्य विभाग किये जा सकते हैं, अर्थात् (१) वे जिनमें हेमचन्द्र के ज्ञान और चरित्र की प्रशंसा की गई है, और (२) वे जिनमें कुमारपाल की अपने गुरु के प्रति श्रद्धा और जैनधर्म के प्रति प्रेम सिद्ध किया गया है।

हेमचन्द्र के सम्बन्ध में पहले तो कितने ही ऐसे काव्य या श्लोक उद्धृत किये गये है, जिनकी रचना उन्होंने भिन्न-भिन्न अवसरों पर की थी। मेरुतुंग ने तो उनसे कुमारपाल की प्रशंसा में गीत ही गवा दिये हैं, जब कि निःसन्तान मरनेवाले की सम्पत्ति राजद्वारा अपहरण न किये जाने की राजा ने मुनादी करा दी थी। परंतु मेरुतुंग का वर्णन **प्रभावकचरित्र** के वर्णन से मेल नहीं खाता है। **प्रभावकचरित्र** में यह मान लिया गया है कि जो श्लोक मेरुतुंग ने 'विद्वान' रचित कहे हैं, वे हेमचन्द्र रचित हैं और जिन्हें मेरुतुंग हेमचन्द्र रचित कह कर उद्धृत करता है, वे वहाँ दिये ही नहीं गये हैं। फिर मेरुतुंग ने हेमचन्द्र के संरक्षक उदयन के द्वितीय पुत्र आम्रभट्ट की प्रशंसा का एक श्लोक हेमचन्द्र

रचित कह कर उद्धृत किया है जो कि उसके बनाये भड़ोच के सुव्रतस्वामी के मंदिर की समाप्ति संबंधी है। इन तीर्थंकर की स्तुति का एक गीत भी मेरुतुंग ने दिया है। **प्रभावकचरित्र** में भी उपरोक्त एक श्लोक दिया है। इसके अतिरिक्त **प्रबन्धचिन्तामणि** में एक प्राकृत दण्डक भी दिया है, जिसकी रचना हेमचन्द्र ने शत्रुंजय में की थी ऐसा कहा जाता है और अपभ्रंश की एक अर्द्ध कविता भी, जिसका विषय साधु के लिये उचित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह वेश्या के विषय में है। जिनमण्डन ने बहुत अधिक कथाएं दी हैं जिनमें से अधिकांश कुमारपाल के बारहव्रत पालन के वृत्तान्त की हैं[१५]।

इनसे भी आकर्षक कदाचित वह कथा है जिसमें कुमारपाल से व्रत भंग कराने में प्रयत्नशील ब्राह्मण पुजारियों के साथ हेमचन्द्र के व्यवहार का वर्णन है। सम्भव है, यह कथा निराधार हो। परन्तु राजशेखर ने ही यह कथा सबसे पहले कही है। कथा इस प्रकार है: कुमारपाल द्वारा जीवित प्राणियों के जीवन-रक्षण सम्बन्धी घोषणा करा देने के कुछ दिन बाद ही आश्विन शुक्ल पक्ष शुरू हुआ। तब कंटेश्वरी और अन्य देवियों के पुजारियों ने राजा को सूचित किया कि अपने पूर्वजों की परिपाटी के अनुसार शुक्ला सप्तमी के दिन ७०० बकरे और ७ भैंसों की, अष्टमी के दिन ८०० बकरे और ८ भैंसों की और नवमी के दिन ९०० बकरे और ९ भैंसों की बलि देवियों को देना ही चाहिए। राजा ने पुजारियों की बात सुन ली। उसके बाद वह हेमचन्द्र के पास गया और सब वृत्तांत उन्हें कह सुनाया। हेमचन्द्र ने राजा के कान में कुछ कहा, जिसे सुनकर राजा उठा और पुजारियों को उनका प्राप्य देने के लिए उसने कह दिया। रात्रि के समय उतने ही बलि-पशु देवियों के मंदिर पर भेज दिये गये। मंदिरों के द्वार पर सावधानी से ताला लगा दिया गया और विश्वस्त राजपूत पहरेदार नियुक्त कर दिये गये। दूसरे दिन प्रातःकाल राजा स्वयम् देवी के मंदिर पहुँचा और कपाट खोलने की आज्ञा दी। पवन वेग से सुरक्षित स्थान में आराम मिलने के कारण तरोताजा पशु मंदिर के चौगान के बीच जुगाली करते बैठे थे। तब राजा ने पुजारियों से कहा कि 'हे पुजारियो! ये पशु मैंने देवियों को भेंट दिये थे। यदि देवियों को पशु रुचिकर होते तो वे उन्हें भक्षण कर सकती थीं। परन्तु यहाँ तो सभी पशु जीवित और सुरक्षित हैं। प्रत्यक्ष है कि

देवियों को मांसाहार रुचिकर नहीं है। परन्तु आप लोगों को ही मांसाहार रुचिकर है। इसलिए अब आप बिलकुल ही मौन हो जायें। मैं जीवित पशुओं का वध किसी भी प्रकार होने नहीं दूंगा। पुजारियों ने सिर नीचे झुका लिये। तब पशु मुक्त कर दिये गये। राजा ने पशुओं के मूल्य के बराबर अन्नमय नैवेद्य देवियों को भेंट चढ़वा दिया।

जिनमण्डन जितने संक्षिप्त रूप में यह कथा कहता है, वह हमें ईजेबेल की पत्नियों और बाल के पुजारियों की कथा का स्मरण करा देती है। परन्तु इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता है कि उसी कहानी का यह रूपान्तर है। इसका उद्भव शायद स्वतन्त्र ही हुआ होगा। यह कथा चाहे काल्पनिक ही हो, तो भी यह एक उत्तम कल्पना है। क्यों कि इससे उन कठिनाइयों का पता चल जाता है जिनका राजा कुमारपाल को जैन धर्म स्वीकार कर लेने पर सामना करना पड़ा था और किस रीति से उसके गुरु ने उन्हें उसके मार्ग से दूर करवाया था। यह भी द्रष्टव्य है कि इस कहानी के अनुसार कंटेश्वरी देवी का मत समाप्त नहीं कर दिया गया था अपितु उसे हिंसक के स्थान पर अहिंसक रूप दे दिया गया था।

मेरुतुंग की दो दूसरी कहानियाँ प्रतिपक्षियों के प्रति किये गये हेमचन्द्र के व्यवहार सम्बन्धी है। पहली में कहा है कि शक्तिशाली शिव-पुजारी बृहस्पति ने देवपट्टन में कुमारविहार के सम्बन्ध में एक बार कुछ गड़बड़ करा दी। फलस्वरूप हेमचन्द्र की उसके ऊपर अवकृपा होने से वह पुजारी के पद से हटा दिया गया। तब वह अनहिलवाड़ आया। उसने वहाँ षाडाश्वयक का अध्ययन किया और गुरु हेमचन्द्र की सेवा में लग गया। उसकी काव्यमयी विनीत प्रार्थना ने हेमचन्द्र के कोप को अन्त में शान्त कर दिया और बृहस्पति फिर से शिव मन्दिर का पुजारी या रक्षक नियुक्त कर दिया गया। जितने कठोर उतने ही क्षमाशील हेमचन्द्र ने अपने पुराने प्रतिपक्षी वामदेव या वामर्षि के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया था। जयसिंह के राजकाल में वह उनका विद्वेषी था और एक बार उसने जब कि हेमचन्द्र अपने उच्च पद पर पहुँच चुके थे, एक घृण्य काव्य द्वारा उन्हें चिढ़ाया था। हेमचन्द्र ने दण्ड स्वरूप तिरस्कार पूर्वक अपने नौकरों द्वारा उसे घर से बाहर निकलवा दिया। वही

नहीं उन्होंने उसे अशस्त्रवध याने रक्तपात रहित मृत्यु का दण्ड दिलवाया जिसका रूप था राजकोश से मिलने वाली वृत्ति का बंद हो जाना। तदनन्तर वामर्षि उमी भिक्षान्न से जो उसे मिल जाता निर्वाह करने और अपने रिपु की शाला अर्थात् जैनउपाश्रय के सामने बहुधा खडा रहने लगा। एक दिन जब वहाँ आना आदि राजकुमार योगशास्त्र का अध्ययन कर रहे थे तो वामर्षि ने पूर्ण मन्य निष्ठा से स्वयम् रचित एक श्लोक मे उस ग्रन्थ की प्रशंसा की जिसे सुनकर हेमचन्द्र तत्काल शांत हो गये और उसको वृत्ति पहले से दुगनी राज से करवा दी[९७]। जैसा वि. पृष्ठ ४७ में कहा गया है शैव पुजारी बृहस्पति और जैन साधु हेमचन्द्र अच्छे मित्र थे। फिर भी बृहस्पति को जो कथा यहाँ कही गई है, वह इन दोनों के सम्बन्धों को अधिक उचित रूप में पेश करती है।

प्रबन्धों में दी गयी कथाओं में से अधिकांश तो हेमचन्द्र की अलौकिक शक्तियाँ, भविष्य कथन की प्रतिभा, अति प्राचीन काल का ज्ञान, व्यंतरादि पर प्रभुत्व और जैन धर्म विरोधी ब्राह्मणद्वेषी शक्तियों पर अधिकार का वर्णन करने वाली ही हैं। प्रभावकचरित्र में तो हेमचन्द्र की एक भविष्य वाणी ऐसी भी दी गई है जो अक्षरशः सत्य निकली थी। कल्याण-कटक के राजा ने, अपने चरों द्वारा यह सुन कर कि कुमारपाल जैन हो गया है और इसलिए शक्ति हीन भी, गुजरात पर विजय करने के उद्देश्य से एक बड़ी सेना एकत्र की। चिन्ता में डूबा हुआ कुमारपाल हेमचन्द्र के पास गया और पूछा कि क्या वह इस दुश्मन से हार जाएगा? हेमचन्द्र ने यह कह कर उसे आश्वस्त किया कि जैन धर्म की रक्षिका देवियाँ गुजरात की रक्षा कर रही हैं और दुश्मन का सात दिन के बाद देहान्त ही हो जाएगा। चरों ने कुमारपाल को कुछ ही समय बाद सूचना दी कि उक्त भविष्यवाणी सत्य निकली है। मेरुतुंग और जिनमण्डन दोनों ने यह कथा दी है। उनकी कथाओं में मध्यप्रांत के दाहल या तीवर के राजा कर्ण का नाम प्रतिपक्षी रूप में दिया गया है। यह राजा कैसे मरा था, वह भी इनमें कहा गया है। वे कहते हैं कि रात के प्रयाग में वह हाथी पर सोया हुआ था। तब उसके साने के कण्ठहार में वट वृक्ष की एक शाखा फस गई और इस कारण कण्ठावरोध से वह मर गया। दाहल का यह कर्ण कुमारपाल से १०० वर्ष पहले राज्य करता था और जैसा कि मेरुतुंग ने अन्यत्र उचित ही कहा है, वह भीमदेव प्रथम का समकालिक था[९८]।

मेरुतुंग के अनुसार हेमचन्द्र के भविष्य कथन की सत्यता का दूसरा प्रमाण उस कथा से मिलता है कि जो उन्होंने राजा को उसके पूर्व जन्म के विषय में कही थी। राजशेखर और जिनमण्डन दोनों ने यह कथा बड़े विस्तार के साथ दी है। इतना ही नहीं, अपितु उसमें यह भी जोड़ दिया है कि हेमचन्द्र ने स्वयम् तो यह सब नहीं कहा परन्तु इसे सिद्धपुर में विद्यादेवियों द्वारा प्रकट कराया था। इस भविष्यवाणी से कुमारपाल को जयसिंह के वैर के कारण का पता चल गया और इसलिए अपने गुरु के ज्ञान से, जिनमण्डन के कथनानुसार वह इतना अधिक चकित हो गया कि उसने तत्काल उन्हें **कलिकालसर्वज्ञ** की उपाधि से विभूषित कर दिया[९९]। यह बिलकुल ही असंभव नहीं है कि हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को उसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त न कहा हो, क्योंकि जैन साधुओं ने बहुधा सभी परिस्थितियों में ऐसा ही किया है। यह बात दूसरी है कि इन कथाओं में जैसा कहा गया है, वैसा ही पूर्व वृत्तान्त हेमचन्द्र ने कहा था या नहीं।

जिनमण्डन की तीसरी कथा भी हेमचन्द्र की दूरदर्शिता (क्लेअरवायन्स) शक्ति का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करती है, जो बिलकुल असंभव परन्तु किम्वदन्तियों के शनैः शनैः विकास के अनुरूप ही है। वह कथा इस प्रकार है कि एक बार हेमचन्द्र राजा कुमारपाल और शैव संन्यासी देवबोधि के साथ बैठे हुए धर्म-चर्चा कर रहे थे। चर्चा करते करते वे एक दम रुक गये इतना ही नहीं अपितु उन्होंने बड़ी आह के साथ एक दुःख का निश्वास भी छोड़ा। उसी समय देवबोधि ने अपने दोनों हाथ मलते हुए कहा, कोई चिन्ता की बात नहीं है। उसके बाद फिर धर्म चर्चा पूर्ववत चलने लगी। जब हेमचन्द्र ने चर्चा समाप्त कर दी और राजा कुमारपाल ने उनके और देवबोधि के बीच के विवाद की बात पूछी तो उन्होंने उत्तर दिया कि हे राजा! मैं ने देखा कि देवपट्टन में चन्द्रप्रभु स्वामी के मन्दिर में दीपक की जलती हुई बत्ती एक मूषक खींच कर ले गया और उससे वहाँ आग लग गई। देवबोधि ने दोनों हाथों से मसल कर वह आग तुरत बुझा दी। कुमारपाल ने तत्काल एक दूत देवपट्टन भेजा तो हेमचन्द्र का कथन बिलकुल सत्य निकला[१००]।

प्रभावकचरित्र में हेमचन्द्र की जादुई शक्ति की एक दूसरी कथा भी दी गयी है। उसमें कहा गया है कि भड़ोच के सुव्रतस्वामी जी के मन्दिर का

जीर्णोद्धार जब आम्रभट्ट ने करा दिया तो उसकी वहाँ की सैंधव देवी और योगिनियों से मुठभेड़ हो गई। फलस्वरूप उन्होंने उसे रोग-पीड़ित कर दिया। आम्रभट्ट की माता ने हेमचन्द्र से सहायता की प्रार्थना की। हेमचन्द्र तब अपने शिष्य यशश्चन्द्र के साथ भड़ोच गये और अपनी अलौकिक शक्तियों द्वारा देवियों को परास्त कर आम्रभट्ट को रोग मुक्त कर दिया। इस कथानक का ही कुछ कुछ भिन्न पाठ मेरुतुंग और जिनमण्डन ने भी दिया है[१०१]।

इन दोनों के सिवा राजशेखर यह भी कहता है कि हेमचन्द्र ने कुमारपाल का कुष्ठ रोग भी अच्छा किया था। कुमारपाल को, मेरुतुंग के कथनानुसार, यह रोग कच्छ के राजा लक्खा को सती माता के उस शाप के कारण हुआ था, जो उसने अपने पुत्र के विजेता मूलराज एवम् उसके समस्त उत्तराधिकारियों को दिया था। हेमचन्द्र ने अपनी योग-शक्ति से कुमारपाल को बिलकुल रोग मुक्त कर दिया। राजशेखर का कहना है कि चौलुक्यों की गृह देवी कंटेश्वरी ने उसकी पशु-बलि बंद किये जाने के कारण साक्षात् हो कर कुमारपाल से उसके सिर पर त्रिशूल का आघात करके बदला लिया था। फलस्वरूप कुमारपाल कोढ़ी हो गया था। कुमारपाल ने अपने अमात्य उदयन को बुला कर अपनी दुःख कथा सुनायी। उदयन के परामर्श से राजा ने हेमचन्द्र से सहायता की प्रार्थना की और उन्होंने मन्त्रपूत जल द्वारा राजा का कुष्ठ रोग दूर कर दिया। जिनमण्डन ने दोनों ही कथाओं को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कहा है और इस प्रकार दो बार के चमत्कार का वर्णन किया है[१०२]।

इससे भी विचित्र दो और कथाएँ जिनमण्डन ने कही हैं। पहली कथा इस प्रकार है कि श्रावक के छठे व्रत की पालना के लिए कुमारपाल ने चातुर्मास में अपने पाटनगर से बाहर न जाने की प्रतिज्ञा कर ली थी। लेकिन उन्हीं दिनों चरों द्वारा सूचना मिली कि गरजन के राजा शक अर्थात् गजनी के सुल्तान मोहम्मद ने उसी चातुर्मास में गुजरात के विरुद्ध अभियान करने की तैयारी कर ली है। इससे कुमारपाल बड़े असमंजस में पड़ गया। यदि उसे अपना व्रत निभाना है तो वह अपने देश की रक्षा नहीं कर सकता। यदि वह अपने राजधर्म का पालन करता है तो उसे जैन सिद्धान्तों के विरुद्ध जाना पड़ता है। इसी असमंजस में वह अपने गुरु हेमचन्द्र के पास पहुँचा। उन्होंने उसे आश्वस्त

कर दिया एवं सहायता करने का अभिवचन भी दिया। फिर हेमचन्द्र पद्मासन लगा कर बैठ गये और गहरी समाधि लगा ली। थोड़ी देर बाद ही आकाश में उड़ता हुआ एक विमान या पालकी आई, जिसमें एक मनुष्य सो रहा था। वह सोया हुआ मनुष्य ही गरजन का राजा था जिसे हेमचन्द्र ने अपनी योग-शक्ति द्वारा खींच बुला लिया था। हेमचन्द्र ने उसे तभी मुक्त किया जब कि उसने यह वचन दे दिया कि वह गुजरात के साथ सुलह शान्ति रखेगा और अपने राज्य में भी छह महीने तक सभी प्रकार के जीवों के संरक्षण की घोषणा करा देगा। दूसरी कथा में तो हेमचन्द्र में और भी अधिक आश्चर्यजनक शक्तियां बताई गई हैं। लिखा है कि एक बार देवबोध से उनका यह विवाद चल पड़ा कि उस दिन पूर्णिमा है या अमावस्या। उन्होंने पूर्णिमा कह दिया हालां कि वह बात गलत थी। इस पर देवबोधि ने उनका उपहास किया। तिस पर भी हेमचन्द्र कहते ही रहे कि वे गलत नहीं हैं और यह भी कि उनकी बात की सत्यता संध्या प्रमाणित कर ही देगी। जब सूर्यास्त हुआ तो कुमारपाल देवबोध तथा अन्य सामन्तों के साथ राजमहल के सब से ऊपरी कक्ष में यह देखने के लिए चढ़ गया कि चन्द्रमा का उदय होता है या नहीं। विशेष सावधानी रखने के लिए उसने साढनी सवार भी पूर्व की ओर भेज दिये। पूर्व दिशा में चन्द्रमा वास्तव में उदय हुआ ही। सारी रात चांदनी भी रही। और दूसरे दिन प्रातः चंद्रमा पश्चिम में अस्त भी हुआ। जो राज सांढनीसवार सुदूर पूर्व में पर्यवेक्षण के लिए भेजे गये थे, उन्होंने भी लौट कर इस बात का समर्थन किया। इसलिए यह माया या छल नहीं था जो राजा की आंखों को धोखा दे गया हो। सत्य ही यह एक आश्चर्य था जिसे हेमचन्द्र ने एक देव की सहायता से सिद्धचक्र द्वारा सम्पन्न किया था।[१०३]

दूसरी श्रेणी की कथाएं अपेक्षाकृत छोटी हैं और प्रायः सभी **प्रभावकचरित्र** में भी मिलती हैं। पहली कथा, जिसमें राजा के प्रति हेमचन्द्र का असीम राग बताया गया है, राज उद्यान के सामान्य ताड़-वृक्षों के श्रीताल वृक्षों में आश्चर्यजनक परिवर्तन सम्बन्धी हैं। एक बार अपनी रचनाओं की अनेक प्रतिलिपियां कराने के कारण हेमचन्द्र को ताड़पत्रों की कमी पड़ गई और अन्य राज्यों से ऐसे ताड़पत्र जल्दी से आयात होने की कोई आशा नहीं थी। अपने गुरु का

इस प्रकार लेखन कार्य रुक जाने के विचार मात्र से कुमारपाल को बड़ा खेद हो रहा था। इसी चिंता में वह अपने उद्यान में गया, जहां सादे ताड़ के अनेक वृक्ष खड़े थे। उसने उन वृक्षों की सुगंधित द्रव्यों और फूलों से पूजा की, उनके तनों को मोती माणिक की बनी सुवर्ण मालाओं से सुशोभित किया और प्रार्थना की कि वे सब श्रीताल वृक्षों में बदल जायें। दूसरे दिन प्रातःकाल मालियों ने उपस्थित हो कर सूचना दी कि राजा की प्रार्थना फल गई है। जो यह शुभ संवाद लेकर आये थे उन्हें बधाई स्वरूप बहुत धन दिया गया और लेखक भी अत्यन्त उत्साह के साथ ग्रन्थ लेखन करने लगे। इस आख्यान को जिन मण्डन ने भी इसी तरह कहा है। वह काल-भ्रम की एक भूल अवश्य ही कर देता है जब कि वह यह मान लेता है कि लेखक गण लिखने का काम कागज से भी चलाते रह सकते थे, परन्तु इसे राजा ने उचित नहीं समझा। प्राचीन जैन भण्डारों के सूक्ष्म निरीक्षण से यह पता लगाया जा चुका है कि कागज का प्रयोग गुजरात में मुसलमानों के गुजरात विजय कर लेने के कोई १२० वर्ष पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ था[१०४]।

गुरु के चरणों में अपना सारा राज्य ही भेंट करके एक दूसरा और सबसे सबल प्रमाण कुमारपाल राजा ने अपनी गुरु भक्ति का दिया है। **प्रभावक-चरित्र** के अनुसार ऐसा अवसर तब प्राप्त हुआ था जब कि एक गाथा की व्याख्या करते हुए हेमचन्द्र ने कहा कि 'पूर्ण श्रद्धावान श्रावक का कर्तव्य है कि सर्व वस्तु का त्याग करे।' साम्राज्य की यह भेंट हेमचन्द्र ने यह कह कर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि साधु-धर्म के अनुसार उन्हें सब प्रकार के परिग्रहों और आकांक्षाओं से मुक्त होना चाहिए।' राजा तिस पर भी नहीं माना। तब अमात्य लोगों ने बीच-बचाव करते हुए कहा कि कुमारपाल राजा रहे, परन्तु वह राजकाज सब गुरु के इच्छानुसार ही निर्वहन करें। यह हल स्वीकार कर लिया गया और हेमचन्द्र ने तब **योगशास्त्र** ग्रन्थ लिखा और उसमें एक परम आस्तिक राजा को कैसा व्यवहार करना चाहिए, वह सब कुमारपाल को बता दिया[१०५]।

कुमारपाल राजा की श्रद्धा जैन धर्म पर सक्रिय रूप से बहुत अधिक थी। उसके अनेक विशेष परन्तु आधारहीन विवरण जिनमण्डन ने दिये हैं। वह

कहता है कि जैन धर्म स्वीकार कर लेने पर राजा ने ब्राह्मणों को महेश्वर एवम् अन्य ब्राह्मण देव प्रतिमाएं जो उसके पूर्वज पूजते थे, दे दीं और उसने अपने महल में जिन प्रतिमाएं ही रहने दी।[१०८] फिर हेमचन्द्र से लिये राजा के बारह व्रत के नियमों के विस्तृत विवेचन में जिनमण्डन ब्योरे के साथ वर्णन करता है कि राजा ने प्रत्येक व्रत का पालन कैसे किया और फलस्वरूप उसे कौन कौन से बिरुद प्राप्त हुए। जैन नियमों के अनुसरण के परिणामस्वरूप जो विधि-विधान बनाये गये उनमें से नीचे लिखे विशेष रूप से वर्णनीय हैं। सातवें व्रत जो कि अनावश्यक शक्ति प्रयोग एवं व्यवसायों का निषेध करता है, के पालन में राजा ने वह सब लगान-महसूल छोड़ दिया जो कोयला बनाने से, वन पदार्थों से, भारवाही बैलगाड़ियाँ रखने वालों से प्राप्त होता था और इसने इन वस्तुओं के विवरण की पुस्तकों तक को भी नष्ट करा दिया। बारहवें व्रत के पालन में उसे १२ लाख मूल्य के कर छोड़ देने पड़े जो श्राद्ध अर्थात् श्रद्धाशील जैन देते थे। इसी दृष्टि से उसने उन जैनों को जिन्हें आवश्यकता थी, धन का दान किया और सदाव्रत सत्रागार भी खोले, जहाँ भिखारियों को भोजन दिया जाता था। उसके विरुदों के विषय में हेमचन्द्र उसे प्रथम अणुव्रत पालने के कारण "शरणागत त्राता" और दूसरे व्रत के पालने के कारण "युधिष्ठिर" और चौथे व्रत के पालने के कारण "ब्रह्मर्षि" कहते थे।[१०७]

इसके अतिरिक्त सभी प्रबन्धों में यह भी लिखा है कि कुमारपाल ने हेमचन्द्र के साथ गुजरात के जैन तीर्थों की कई बार यात्राएं की थीं। **प्रभावकचरित्र** के अनुसार तो ऐसी तीर्थयात्रा एक ही बार और सो भी उसके राज्यकाल के अन्तिम समय में ही हुई थी। इस तीर्थयात्रा में वह शत्रुंजय और गिरनार दोनों ही तीर्थों पर गया था। वह गिरनार पहाड़ पर तो नहीं चढ़ा, परन्तु उसकी तलहटी ही में उसने नेमिनाथ की पूजा अर्चना की थी। उसने अपने अमात्य वाग्भट्ट को शिखर तक अच्छी सड़क बनवा देने का आदेश भी दिया था। मेरुतुंग के तीर्थयात्रा प्रबन्ध में भी ऐसा ही वर्णन है। परन्तु उसमें डाहल के राजा के आयोजित आक्रमण की बात भी मेरुतुंग ने जोड़ दी है और संघाधिपति के रूप में धंधुका होते हुए कुमारपाल को शत्रुंजय पहुँचाया है। ऐसा भी कहा गया है कि धंधुका में उस अवसर पर झूलणविहार [पृ० ७१ झालिकाविहार] बनाया गया था। तीर्थयात्रा का यह बात मेरुतुंग ने भी

कुमारपाल के राजकाल के अन्तिम समय में रोना ही कहो है। राजशेखर दो तीर्थयात्राकी बात कहता है, एक काठियावाड़ की ओर दूसरी स्थम्भनपुर अर्थात् खम्भात की, जिसे राजा ने श्री पार्श्वनाथ को ही चढ़ा दिया था। अन्त में जिनमण्डन मेरुतुंग से सहमत है, परन्तु कुमारपाल के कार्यों का सर्वेक्षण करते हुए वह कहता है कि राजा ने सात यात्रायें करके अपने को पवित्र किया था और पहली यात्रा के समय उसने जिन प्रतिमा की ऐसे नवरत्नों से पूजा की कि जिनका मूल्य नौ लाख था।[108] यदि इन सब वर्णनों का समर्थन कुमारपाल के समय के लेखों में नहीं भी हो तो भी हम प्रबन्धों की इस बात में विश्वास कर सकते हैं कि राजा अपने राज्यकाल के अन्तिम समय में ही शत्रुंजय और गिरनार गया था। इस बात में द्व्याश्रयकाव्य और महावीरचरित्र का मौन विशेष महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि ये दोनों ही ग्रन्थ, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, कुमारपाल के राजकाल के अन्त से कुछ पहले ही लिखे जा चुके थे। प्राचीनतम प्रबन्धों का अकस्मात् पूर्ण एकमत उनके इस वर्णन की सामान्य सत्यता का एक बड़ा भारी प्रमाण है। यही नहीं, अपितु इस घटना की आन्तरिक सम्भावना का उससे भी गहरा प्रमाण है। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में भारतीय राजागण तीर्थयात्रा पर जाया करते हैं और इसलिए यह सहज ही समझ में आ सकता है कि कुमारपाल ने अपने द्वारा निर्मित काठियावाड़ प्रायद्वीप के मंदिरादि की यात्रा करना अपना कर्त्तव्य समझा हो। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या यात्राओं का विवरण यथार्थ ही लिखा गया है? क्योंकि इस पर कठिनाई से विश्वास किया जा सकता है कि यदि कुमारपाल ने गिरनार की यात्रा की थी तो वह देवपट्टन की यात्रा को, जो गिरनार से बहुत दूर पर नहीं है और जहां उसके द्वारा बनाये हुए पार्श्वनाथ और सोमनाथ महादेव के मंदिर थे, क्यों नहीं गया? उसके खम्भात जाने और सात बार तीर्थयात्रा करने का विवरण तो बिलकुल विश्वसनीय नहीं ठहरता है।

हेमचन्द्र को मृत्यु के विषय में प्रभावकचरित्र में इतना ही कहा है कि वि सं. १२२९ में हेमचन्द्र का स्वर्गवास हुआ था। मेरुतुंग ने कुछ अधिक विवरण दिया है। उसके अनुसार हेमचन्द्र ने यह भविष्य कहा था कि ८४वें वर्ष में उनका देहांत हो जायेगा और जब वे उस अवस्था को

पहुँचे तो जैन क्रिया योग के अनुसार उन्होंने अंतिम उपवास अर्थात् संथारा ले लिया था। मृत्यु से पूर्व उन्होंने अपने मित्र राजा को, जो कि उनके लिये शोक विह्वल था, सूचित किया कि वह भी छह महीने बाद मृत्यु को प्राप्त हो जायगा और चूंकि वह पुत्रहीन है, इसलिए जीवितावस्था में ही अन्तिम क्रियाएं करने का भी उसे उन्होंने उपदेश दिया। जब वे कुमारपाल से यह सब कह चुके तो दसवें प्राण द्वार द्वारा अपने प्राण उन्होंने विसर्जन कर दिये। कुमारपाल ने तब उनकी देह का दाह संस्कार कराया और उनकी भस्म को उसने अपने भाल पर तिलक किया क्योंकि वह उसको पवित्र पुण्यमयी मानता था। अनहिलवाड़ राज्य के सभी सामन्तों और नागरिकों ने भी उसका अनुकरण किया। मेरुतुंग कहता है कि आज भी अनहिल्वाड़ में हेमखड्ड इसीलिए प्रसिद्ध है। यह भी कहा जाता है कि कुमारपाल ने अपना शेष जीवन अत्यन्त शोक में व्यतीत किया और ३१ वर्ष तक राज कर उसी पूर्व-कथित दिन को समाधि-अवस्था में उसने अपना देह विसर्जन किया। समाधि अवस्था के कथन से यही विश्वास होता है कि उसने भी संथारा स्वीकार कर पण्डितमरण प्राप्त किया था।

मेरुतुंग के इस वर्णन की, जहाँ तक कि वह हेमचन्द्र से सम्बन्धित है, जिनमण्डन ने पुनरावृत्ति ही की है। परंतु उसने उनके अन्तिम वर्षों की कुछ अधिक बातें भी इस वर्णन में दी हैं। वह कहता है कि अपने शिष्यों की फूट से उनके अन्तिम वर्ष बड़े दुःखद हो गये थे। पुत्रहीन होने के कारण कुमारपाल भी वृद्धावस्था में उत्तराधिकारी के विषय में बड़ा चिन्तित था। वह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि अपना उत्तराधिकारी वह अपने भतीजे अजयपाल को बनाये अथवा अपने दौहित्र प्रतापमल्ल को; हालां कि प्रथानुसार अजयपाल ही उसके उत्तराधिकार का प्रथम अधिकारी था। हेमचन्द्र ने प्रतापमल्ल के पक्ष में अपना मत दिया था, क्योंकि वह लोकप्रिय एवं धर्म में भी दृढ था। अजयपाल व्यसनी था। ब्राह्मण उसके समर्थक थे। इसलिए अपने काका के प्रचारित विधि-विधानों को उसके द्वारा रद कर देना भी निश्चित था। हेमचन्द्र के एक शिष्य, बालचन्द्र, ने अपने गुरु की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल और अपने धर्म के हितों के भी विरुद्ध, अजयपाल से घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया।

रामचन्द्र और गुणचन्द्र नामक शिष्य अपने गुरु के प्रति ही निष्ठावान रहे। कुमारपाल की मृत्यु के सम्बन्ध में जिनमण्डन मेरुतुग से कुछ भिन्न बात कहता है। उसका कहना है कि हेमचन्द्र की सम्मति के अनुसार प्रतापमल्ल को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देने के कारण अजयपाल ने कुमारपाल को विष दे दिया। जब कुमारपाल पर विष का प्रभाव बढ़ने लगा उसने राजकोशागार से विष-निवारिणी छीप मगवाई ताकि विष बाहर निकाल दिया जाये। परन्तु, अजयपाल ने तो यह छीप पहले से ही गुम करवा दी थी। जब राजा को यह सूचना मिली तो जैन शास्त्रानुसार समाधिमरण की उसने तैयारी कर ली और चौविहार संथारा कर अपने प्राण त्याग दिये। उसके बाद अजयपाल ब्राह्मणों से समर्थित होता हुआ गुजरात का राजा बना[१२९]।

इन विवरणों से हम निश्चयपूर्वक इतना ही कह सकते हैं कि हेमचन्द्र का निधन कुमारपाल के निधन के कुछ ही पूर्व वि सं १२२९ में हुआ था। हेमचन्द्र अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में राजा के उत्तराधिकारी सम्बन्धी झगड़ों में शरीक थे और उन्होंने जैनधर्म के लाभ के लिए वास्तविक उत्तराधिकारी के स्वत्व को मारने का भी प्रयत्न किया था, बिलकुल असभव नहीं माना जा सकता है। इसके पक्ष में यह भी तर्क पेश किया जा सकता है और सभी आधार ग्रन्थों से यह पता चलता है कि उनकी मृत्यु के पश्चात जैन धर्म के विरुद्ध भारी प्रतिक्रिया हुई थी और हेमचन्द्र एवम् कुमारपाल दोनों ही के पुराने मित्र व साथी साधु रामचन्द्र और अमात्य आम्रभट्ट (उदयन का द्वितीय पुत्र) दोनों को नए राजा ने विशेषरूप से बहुत सताया था। यह बात भी कि कुमारपाल का उत्तराधिकारी प्रतापमल्ल घोषित कर दिया गया था और कुमारपाल को विष दिया गया था, किसी भी प्रकार अविश्वनीय नहीं कही जा सकती है। परन्तु उन्हें निश्चय पूर्वक ऐतिहासिक कहने के लिए यह आवश्यक है कि जिनमण्डन की रचना से पूर्व के और अधिक विश्वस्त आधारों से इनका समर्थन प्राप्त हो।

टिप्पण

१. प्रभावकचरित्र अर्थात् पूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरि के अन्तिम २२ वें शृङ्ग में हेमचन्द्र का जीवन चरित्र दिया गया है। इसके अतिरिक्त २१ वें शृङ्ग में भी उनके सम्बन्ध में कुछ बातें दी गई हैं। यह ग्रन्थ जो हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के परिशिष्टपर्व का अनुवर्तन ही है, चन्द्रप्रभ के पट्टधर शिष्य प्रभाचन्द्रसूरि द्वारा संकलित और वैयाकरण देवानन्द के शिष्य कनकप्रभसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि द्वारा शुद्धिकृत है जैसा कि उपोद्घात का श्लोक १६ कहता है :—

> श्रीदेवानन्दशिष्यश्रीकनकप्रभशिष्यराट्।
> श्रीप्रद्युम्नप्रभुर्जीयाद्ग्रन्थस्यास्य विशुद्धिकृत् ॥ १६ ॥

'श्री देवानन्द के शिष्य श्री कनकप्रभ और उनके शिष्य श्री प्रद्युम्नप्रभु जयवन्त हों, जिन्होंने इस ग्रन्थ को पूर्ण विशुद्ध किया।'

यही बात प्रत्येक शृङ्ग के अन्त के श्लोकों में भी कही गई है। २२वें शृङ्ग के अन्त में ये श्लोक मिलते हैं :—

> श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-
> चन्द्रः सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।
> श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीहेमचन्द्रः प्राथा[श्रीहेमचन्द्रप्रभोः]
> श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृङ्गो द्विकद्विप्रमा[:]।।८४१।।

'श्रीचन्द्रप्रभसूरि के पट्टरूप सरोवर में हंस समान तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र ऐसे श्री प्रभाचन्द्रसूरि ने अपने विचारों के अनुसार, श्री प्रद्युम्नसूरि द्वारा संशोधित श्री पूर्वर्षियों का चरित्र रूप रोहणगिरि का श्रीहेमचन्द्रसूरि के चरित्र रूप यह बाईसवां शृङ्ग अर्थात् शिखर पूरा हुआ।'

शृङ्ग १, ४, ७, ११, १३, १४, १७, १९ और २१ के अन्त में भी कितने ही श्लोक प्रद्युम्नसूरि की प्रशंसा में कहे गये हैं। इनमें से १७वें शृङ्ग के

अन्त का श्लोक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उससे प्रद्युम्नसूरि का समय कुछ तो ठीक-ठीक अनुमान किया जा सकता है। इस श्लोक में कहा है—

श्रीदेवानन्दसूरिर्दिशतु मुदमसौ लक्षणाद्येन हैमा-
दुद्धृत्याप्राज्ञहेतोर्विहितमभिनवं सिद्धसारस्वताख्यम्[म्]।
शाब्दं शास्त्रं यदीयान्वयिकनकगिरिस्थानकल्पद्रुमश्च
श्रीमान्प्रद्युम्नसूरिर्विशदयति गिरं नः पदार्थ प्रदाता॥ ३२९॥

'वे श्रीदेवानन्द हर्ष प्रदान करें, जिन्होंने हेमव्याकरण में से उद्धरण देकर सुज्ञों के बोध के लिए नया सिद्धसारस्वत नाम का व्याकरण रचा। उनके वंश-रूप कनकाचल में कल्पवृक्ष समान और पद-अर्थ बताने वाले श्रीमान् प्रद्युम्न-सूरि ने हमारी वाणी प्रकट कराई है।'

इस श्लोक के उत्तर पाद का भावार्थ हो यहाँ दिया है। उसके श्लेष की ओर मैंने कोई ध्यान नहीं दिया है। फिर भी उससे ज्ञात होता है कि देवानन्द ने सिद्धसारस्वत नाम का व्याकरण हेमचन्द्र के व्याकरण के आधार पर बनाया था। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण का नाम 'सिद्ध-हेमचन्द्र' दिया है, और इसका अर्थ होता है 'जयसिंह सिद्धराज की प्रतिष्ठा में हेमचन्द्र द्वारा रचित'। देवानन्द के व्याकरण के नाम का भी ऐसा ही अर्थ लगाते हुए हम कह सकते हैं कि 'सिद्धराज राजा की प्रतिष्ठा में लिखा गया सारस्वत अर्थात् सरस्वती की कृपा से पूर्ण हुआ ग्रन्थ'। यदि यह अर्थ ठीक है—परन्तु हमें स्वीकार करना होगा कि इसका दूसरा अर्थ भी बहुत संभव है—तो देवानन्द भी हेमचन्द्र का समकालीन होना चाहिए और उसने भी जयसिंह सिद्धराज की अध्यक्षता में ही रचना की होगी। जयसिंह सिद्धराज का देहान्त वि. सं. ११९९ में कार्तिक सुदी ३ अर्थात् सन ११४२ ई० में हुआ था। ऐसी दशा में प्रद्युम्नसूरि की साहित्यिक प्रवृत्ति, जो देवानन्द के चेले के चेले थे, भी लगभग १३वीं शती के प्रथमार्द्ध उत्तरार्द्ध के मध्य संभव होती है। परन्तु ऐसी अनिश्चित नींव पर भवन निर्माण की आवश्यकता से हमारी रक्षा खम्भात के भण्डार में मिली बालचन्द्र की विवेकमञ्जरी टीका की प्रशस्ति से हो जाती है। यह डा० पिटरसन के तीसरी प्रतिवेदना [थर्ड रिपोर्ट] के परिशिष्ट १ के पृ० १०१-१०९ में दी गई है। इसमें उपर्युक्त प्रद्युम्नसूरि की साहित्यिक प्रवृत्तियों की निश्चित तिथियाँ दी हैं।

पहली **प्रशस्ति** में [वही पृ० १०१-१०३] जो कि **विवेकमंजरी** के लेखक और टीकाकार दोनों की प्रशंसा में है, यह कहा गया है :—भिल्लमालवंशोद्भव [अर्थात् श्रीमाल बनिया] और कटुकराज का पुत्र कवि आसड—जिसको कालिदास के मेघदूत की व्याख्या करने के उपलक्ष में 'कवि-सभा-शृङ्गार' विरुद राजसभा से दिया गया था, का जेतल्ल देवी स्त्री से दो पुत्र थे—राजड़-बाल-सरस्वती और जैत्रसिंह। जब पहला पुत्र मर गया तो उसे बहुत शोक हुआ। अभयदेवसूरि ने इसे 'जाग्रत' किया। और तब उसने वि० सं० १२४८ तद्नुसार सन् १२९१-९२ ई० में **विवेकमंजरी** [देखो डा० पिटरसन-प्रथम प्रतिवेदन परि० १ पृ० ५६ श्लो० १२] लिखी। उसके द्वितीय पुत्र जैत्रसिंह ने गणि बालचन्द्र को पिता के ग्रन्थ पर टीका लिखने की विज्ञप्ति की [श्लो० १३]। बालचन्द्र ने इसमें तीन व्यक्तियों से सहायता ली अर्थात् नागेन्द्रगच्छ के विजयसेनसूरि, बृहद् गच्छ के पद्मसूरि [श्लो० १४], और देवानन्द के कुल में चन्द्रमा समान कनकप्रभसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि से। यहाँ भी प्रभावकचरित्र का क्रम ही मिलता है अर्थात् देवानन्द, कनकप्रभ और प्रद्युम्न। इसीलिए यह निश्चित है कि **प्रभावकचरित्र** को विशुद्ध करनेवाला ही बालचन्द्र का सहायक था। दूसरी प्रशस्ति का अन्तिम श्लोक जिसमें कि खम्भात की प्रति के दान करने वाले की स्तुति है [पृ० १०९ श्लो० ३८], बताता है कि उक्त प्रति वि० सं० १३२२ की कार्तिक वदी ८ सोमवार को समाप्त हुई थी अर्थात् डा० श्राम (Dr. Schram) की कालगणना पद्धति के अनुसार २ नवंबर १२६५ ई० जिस दिन कि वास्तव में सोमवार ही था। ठीक इसके बाद यह घोषित किया गया है कि यह प्रशस्ति श्री प्रद्युम्नसूरि ने संशोधित की [प्रशस्तिः समाप्ता ॥ शुभमस्तु। पूज्य श्री प्रद्युम्नसूरिभिः प्रशस्तिः संशोधितेति ॥]। इससे प्रद्युम्नसूरि की प्रवृत्तियों की निश्चित तिथि हमें मिल जाती है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने एक तीसरे ग्रन्थ की रचना में भी सहायता की थी, जो कि बहुत संभव है अधिक से अधिक तेरहवीं शती के मध्य की कृति हो। अपने शान्तिनाथचरित्र के उपोद्घात में देवसूरि [पिटरसन-प्रथम प्रतिवेदन १८८२-८३, पृ० ६० परि० पृ० ४-६] कहते हैं कि देवचन्द्रसूरि की इस नाम की प्राकृत रचना का संशोधित संस्करण ही यह कृति है [श्लो० १३]। फिर वे

देवचन्द्रसूरि के शिष्य हेमचन्द्र की स्तुति करते हैं जिन्होंने कुमारपाल को जैन-धर्मी राजा बनाया था [श्लोक० १४-१५]। फिर श्लोक १६ में वे सिद्ध-सारस्वत व्याकरण के कर्ता देवानन्द की स्तुति करते और श्लोक १७ में कहते हैं कि कनकप्रभ के शिष्यों में राजा समान प्रद्युम्न ने इसकी विशुद्धि की। यह श्लोक १७ प्रभावकचरित्र के १७-३२९ के ऊपर उद्धृत श्लोक से इतना मिलता हुआ है कि उसे प्रद्युम्नसूरि का ही कह देने में आपत्ति नहीं है। शांति-नाथचरित्र का रचनाकाल इस बात से निश्चित है कि उसकी खम्भात की प्रति लगभग वि० सं० १३३८ या सन १२८२-८३ ई० में लिखी गई है। काल के बारे में निश्चय पूर्वक इसलिए नहीं कहा जा सकता कि आवश्यक विवरण उपलब्ध नहीं है। जैनों ने सदा हीं विक्रमसंवत का प्रयोग किया है, यह इस मान्यता के पक्ष में है कि यहाँ भी वि० सं० ही अभिप्रेत है।

प्रद्युम्न के काल की खोज का यह परिणाम हमें यह कहने को बाध्य करता है कि प्रभावकचरित्र भी विक्रमी तेरहवीं शती का है और बहुत संभव है कि इसका संकलन सन् १२५० ई० से बहुत बाद का नहीं है। इसलिए हेमचन्द्र का जीवन विषयक प्राचीनतम आधार यही है। इस बात पर भार देना और यह विशुद्ध रूप से बताना इसलिए भी अधिक आवश्यक है कि मेरे सम्माननीय मित्र रायबहादुर एस. पी. पण्डित इस ग्रन्थ को बहुत पीछे का बताते हैं। गौडवहो के अपने उपोद्घात पृ० १४९ में वह कहते हैं कि इसकी 'रचना राज-शेखर के प्रबन्धकोश के पश्चात हुई है [देखो टिप्पण ३] और यह कि राज-शेखर का, प्रभावकचरित्र ११-१ में, उल्लेख है। परन्तु उक्त श्लोक अपने शुद्ध रूप में इस प्रकार है :—

बप्पभट्टिः श्रिये श्रीमान्यद्वृत्तगगनांगणे।
खेलति स्म गतायाते राजेश्वरकविर्बुधः॥ १॥

जो हस्तलिखित प्रति मुझे प्राप्त हुई है और जो १८७९-८० के डेकन कालेज संग्रह सं० १२ के अनुरूप अहमदाबाद के हठीसिंह भण्डार की प्रति से नकल की हुई है और अशुद्धियों से भरी है, उसमें 'गतायातैः राजेश्वराः' पाठ है। डेकन कालेज की प्रति में ये दोनों भूलें नहीं हैं। परन्तु फिर अन्त में 'बुधः' के स्थान में असंगत शब्द 'बुदा' दिया गया है, और इसके स्थान में

रा० ब० पण्डित ने 'मुदा' शब्द स्थानापन्न कर लिया है। यह विशुद्धिकरण न केवल अनावश्यक ही है, अपितु अर्थ को भी भ्रष्ट कर देता है। इस श्लोक का अर्थ है—'श्रीमान् बप्पभट्टि हमें सम्पन्नता प्राप्त करावें, जिनके कि जीवन में पण्डित [बुध] राजेश्वर कवि ने जाते आते आकाशस्थ बुध ग्रह की भाँति भाग लिया था।'

राजेश्वर कवि से यहाँ भी अभिप्राय वाक्पतिराज से ही है और इसलिए **गौडवहो** के लेखक को ही बताता है कि जो जैन कथानक के अनुसार बप्पभट्टि से अनेक बार सम्पर्क में आया था। उसे पण्डित [बुध] कहा गया है और इसी शब्द से, जो कि बुध ग्रह का भी द्योतक है, **बप्पभट्टि** के जीवन की आकाश से तुलना की गयी है। जैन कवियों में **बप्पभट्टि** बहुत ही लोकप्रिय है और इसलिए लेखक को यह संकेत करना उचित प्रतीत हुआ है कि 'गुरु का जीवन आकाशवत् विशुद्ध था।' भारतीय लोग कहा करते हैं कि आकाश को धूल कभी नहीं चिपकती। रावबहादुर पण्डित की यह मान्यता कि इस श्लोक में यह कहा गया है कि **बप्पभट्टि** की जीवन कथा **प्रबन्धकोश** से ली गई है, इसलिए गलत है। **प्रभावकचरित्र** और **प्रबन्धकोश** में दिए काल की तुलना करने पर उन्हें यह स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता कि प्रबन्धों का विवरण **प्रभावकचरित्र** पर ही आधारित है। रावबहादुर पण्डित ने **प्रभावकचरित्र** के बाद में लिखे जाने के सम्बन्ध में जो दूसरी बात कही है, वह भी इतनी ही लचर है। वह उसी उपोद्घात के पृ० १५३ में कहते हैं—

'इस ग्रन्थ का लेखक हेमचन्द्र [सन् १०८९-११७४ ई०] की मृत्यु के बहुत ही बाद में हुआ था क्योंकि अपने ग्रन्थ में उनकी जीवनी लिखने के साथ-साथ उनके विषय में वह यह भी कहता है कि जिनके विषय में मैं लिखता हूँ, उनमें से कुछ के जीवन पर कुछ रचनाएँ बहुत पहले ही वे अर्थात् हेमचन्द्र कर चुके थे [पुरा ११-११]।'

इस कथन में कितनी ही गलतियाँ हैं। राव बहादुर पण्डित जिस लेख की बात कहते हैं वह **प्रभावकचरित्र** ११, ११ में नहीं, अपितु १, ११ में उस ग्रन्थ के उपोद्घात में है। फिर वह यह नहीं कहता है कि लेखक ने हेमचन्द्र के ग्रन्थों का सहारा लिया है, परन्तु यह कि वह **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** में हेमचन्द्र

द्वारा प्रारम्भ किये जैन गुरुओं के जीवनचरित्रों को ही आगे चलाता है। उसके परिशिष्टपर्व में ये कथानक वज्रस्वामी के जीवन के साथ समाप्त हो जाते हैं। मेरी प्रति में विवादात्मक श्लोक इस प्रकार है :—

> कलौ युगप्रधानश्रीहेमचन्द्रः [द्रं] प्रभुः पुरा।
> श्रीशलाकानृणां वृत्तं [वृत्तं] प्रास्तवीन् नृपबोधकृत् ॥११॥
> श्रुतकेवलिनां षण्णां दशपूर्वभृतामपि।
> आवज्रस्वामिवृत्तं च चरितानि व्यधत्त सः ॥ १२ ॥
> ध्याततन्नाममन्त्रस्य प्रसादात् प्राप्तवासनः।
> आरोढयन्निव हेमाद्रि पादाभ्यां बिश्वहास्यभूः ॥ १३ ॥
> श्रीवज्रानुप्रवृत्तानां शासनोन्नतिकारिणाम्।
> प्रभावकमुनीन्द्राणां वृत्तानि कियता [ता] मपि ॥ १४ ॥
> बहुश्रुतमुनीशेभ्यः प्राप्त [ग्र] न्थेभ्यश्च कानि [चित्]।
> ....वर्णयिष्ये कियन्त्यपि ॥ १५ ॥ विशेषकम् ॥

अन्तिम श्लोक के छूटे हुए अंश की पूर्ति कदाचित् 'अवगम्य यथाबुद्धि' से कदाचित की जा सकती है। 'पुरा' शब्द, जिसका अर्थ रावबहादुर पण्डित ने 'बहुत काल पूर्व' किया है, केवल 'पहले' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और इस तरह वह अनिश्चित काल है। इस शब्द का प्रयोग उन घटनाओं के लिए भी किया जाता है जो वर्णन के बहुत पूर्व नहीं हुई हैं और सदियों पहले घटी घटनाओं के लिए भी किया जाता है।

२. शास्त्री रामचन्द्र दीनानाथ के संस्करण, जो कि अभी ही बम्बई से प्रकाशित हुआ है, के अतिरिक्त मेरे पास दो अधूरी अर्थात् कुछ कुछ अपूर्ण प्रतियाँ आई. ओ. एल. बूहलर संस्कृत हस्त० ग्रन्थ सं० २९५ और २९६ हैं। अन्तिम श्लोक जिसमें कि तिथि दी है, डा० पिटरसन के द्वितीय प्रतिवेदन के पृ० ८७ में छपा है। वह उसी रूप में प्रति सं० २९६ में भी मिलता है।

३. मैं ने प्रबन्धकोश अथवा प्रबन्धचतुर्विंशति की तिथि रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई शाखा के मुख पत्र भाग १० पृ० ३२ के टिप्पण के अनुसार दी है। तुलना करें रा. ब. एस. पी. पण्डित सम्पादित गौडवहो पृ० १४३ उपोद्घात से। जिस प्रति से मैंने उद्धरण दिये हैं वह आई. ओ.

एल. बुह्लर संस्कृत प्रति सं० २९४ है। हेमचन्द्र की जीवनी उसके दसवें प्रबन्ध में है।

४. उपरोक्त संग्रह सं० २९६ का अन्तिमांश इस प्रकार पढ़ा जाता है :—

प्रबन्धो योजितः श्रीकुमारनृपतेरयम्।
गद्यपद्यैर्नवै [:] कैश्चित प्राप्त [क्त] ननिर्मितैः॥
श्रीसोमसुंदरगुरोः शिष्येण यथाश्रुतानुसारेण।
श्रीजिनमण्डनगणिना द्व्यंकमनु १४९२ प्रमितवत्सरे रुचिरः॥

इति श्रीसोमसुन्दरशा [सू] रीश्वरश्रीजिनमण्डनोपाध्यायैः श्रीकुमारपाल [प्रबन्धो] दृष्टश्रुतानुसारेण योजि [तः] ग्रन्थाग्रं ४२०० इति श्रीकुमारपालचरित्रं सम्पूर्णम्॥

पहला श्लोक कुछ अंश अनुष्टुप प्रतीत होता है। पूर्वार्द्ध में हम 'श्रीमत्-कुमार' पढ़ सकते हैं और द्वितीयार्द्ध में 'प्राक्तननिर्मितैरपि'। कर्नल टाड ने **'ट्रैवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया'** ग्रन्थ के पृ. १९२ में इसकी तिथि ठीक-ठीक पहले ही दे दी है, परन्तु रचयिता का नाम वहाँ भूल से 'सैलुग आचारज' दे दिया गया है।

५. उपर्युक्त प्रति के पृ. ९९ पंक्ति ९ में नीचे लिखा गया है :—

तेन यथा सिद्धराधो रंजितो व्याकरणं कृतं वादिनो जिताः। यथा च कुमारपालेन सह प्रतिपन्नं कुमारपालोऽपि यथा पंचाशद्वर्षदेशीयो निषण्णो [भिषिक्तो ?] यथा श्रीहेमसूरयो गुरुत्वेन प्रतिपन्नाः। तैरपि यथा देवबोधिः प्रतिपक्षः पराकृतः। राजा सम्यक्त्वं ग्राहितः श्रावकः कृतः। निर्बीराधनं च मुमोच सः। तत् प्रबन्धचिंतामणितो ज्ञेयम्। किं चर्वितचर्वणेन। नवीना [नास्] तु केचन प्रबन्धाः प्रकाश्यन्ते॥

देवबोधि की कथा प्रबन्धचिन्तामणि में नहीं दी गई है।

६. इस अलभ्य ग्रंथ की एक प्रति १८८०–८१ के डेकन कालेज संग्रह में है [देखो—कीलहार्न का प्रतिवेदन १८८०–८१ का परिशिष्ट पृ. ३२–३४]। राजा [चक्रवर्तिन] अजयदेव, जिसकी सेवा यशःपाल करता था, कदाचित् अजयपाल कुमारपाल का उत्तराधिकारी ही हो, जिसे बहुधा अजयदेव भी कहा जाता है।

चक्रवर्ती का विरुद किसी छोटे सामंत या माण्डलिक की कल्पना करने में बाधक है। अन्यथा यह भी मान लिया जाता कि अजयदेव थराद का ही पहले का ठाकुर था, क्योंकि नाटक की यह घटना थारापद-राजपूताना और गुजरात के बीच की सीमा पर स्थित छोटी मारवाड़ के आज के थराद-में हुई मानी जाती है। थारापद-थराद का उल्लेख इस प्रकार भी समझाया जा सकता है कि वही अनहिलवाड़ के राजा का राज्यपाल यशःपाल था।

७. मंगल के पाँचवें श्लोक के ठीक बाद के गद्य-उपोद्घात् पृ. २ पं. ३ में हम यह पढ़ते हैं कि—

इह किल शिष्येण विनीतविनयेन श्रुतजलधिपारंगमस्य क्रियापरस्य गुरोः समीपे विधिना सर्वमध्येतव्यम्। ततो भव्योपकाराय देशना क्लेशविनाशिनी विस्तार्या। तद्विधिश्चायम्। अस्खलितममिलितमहीनाक्षरं सूत्रम्। अग्राम्यललित-भंग्यार्थः कथ्यः। कायगुप्तेन परितः सभ्येषु दत्तदृष्टिना यावदर्थावबोधं वक्तव्यम्। वक्तुः प्रायेण चरितैः प्रबन्धैश्च कार्यम्। तत्र श्रीऋषभादिवर्धमानान्तानां चक्रया-दीनां राज्ञां ऋषीणां चार्यरक्षितानां वृत्तानि चरितान्युच्यन्ते। तत्पश्चात्कालप्रसा [गता] नां तु नराणां वृत्तानि प्रबन्धा इति॥

८. प्रबन्धचिंतामणि पृ. १ :—

श्रीगुणचंद्रगणेशः प्रबन्धचिंतामणि नवं ग्रन्थम्।
भारतमिवाभिरामं प्रथमादर्शेऽत्र निर्मितवान्॥ ५॥
भृशं श्रुतत्वान्न कथाः पुराणाः
प्रीणन्ति चेतांसि तथा बुधानाम्।
वृत्तैस्तदासन्नसतां प्रबन्ध-
चिन्तामणिग्रन्थमहं तनोमि॥ ६॥
बुधैः प्रबन्धाः स्वधियोच्यमाना
भवन्त्यवश्यं यदि भिन्नभावाः।
ग्रन्थे तथाप्यत्र सुसंप्रदाय-
दृष्टे न चर्चा चतुरैर्विधेया॥ ७॥

९. देखो प्रभावकचरित्र २२. ९ जहाँ नगर का 'प्रभाव की दृढ़ रंगभूमि' कह कर वर्णन किया गया है और टिप्पण १६। मेरुतुंग [देखो टिप्पण १५]

कहता है कि यह नगर अर्धाष्टम जिले में है। अर्धाष्टम नाम कदाचित् जिले की सब बस्तियों को ही दिया गया है और 'बारह गांव अथवा कस्बे' के समूह का द्योतक है। **मोढेरकार्धाष्टम** का उल्लेख मूलराज के भूमि-दान के लेख में भी है [देखो—इण्डियन एंटिक्वेरी भाग ६ पृ. १९२]। वर्तमान धंधुका नगर के लिए देखो सर डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर का **इम्पीरियल गजेटियर** और **बंबई गजेटियर** भाग ४ पृष्ठ ३३४।

१०. **प्रभावकचरित्र** २२, ८५२ [देखो नीचे टिप्पण १४] और जिन-मण्डन में जन्मवर्ष दिया हुआ है। टिप्पण १६ से भी तुलना कीजिये। भविष्य में विक्रम संवत् ही मैं दूंगा क्योंकि इसको ईसवी सन् में साधारणतया निश्चित रूप से नहीं बदला जा सकता है।

११. **प्रभावकचरित्र** में पिता का नाम **'चाचः'** दिया है। **राजशेखर** ने सर्वत्र और जिनमण्डन में कहीं कहीं **'चाचिकः'** नाम दिया है। मेरुतुंग और **राजशेखर** ने माता का नाम **'पाहिणी'** दिया है। श्री मोढ़ वणिए आज भी बहुत हैं। उसी प्रान्त के नाम से अनेक ब्राह्मण भी अपने को आज भी श्रीमोढ़ कहते हैं [रा. ए. सो. बंबई शाखा का पत्रक भाग १० पृ. १०९–१०]। दोनों का नाम अनहिलवाड़ के दक्षिण में आये मोढ़ेरो नाम के प्राचीन नगर से ही लिया गया है। देखो—फारबस की **रासमाला** पृ. ८०।

१२. प्रतियों में कहीं कहीं **'चांगदेव'** भी मिलता है। मेरुतुंग [देखो टिप्पण १५] कहता है कि **'पाहिणी'** चामुण्डा गोत्र की थी और इसलिए उसके पुत्र का नाम 'चा' से प्रारम्भ हुआ था। फिर भी 'चांग' या 'चंग' का देशी शब्द **'चंगम'** सिंधी **'चंगु—अच्छा'** और मराठी **'चांगला-अच्छा'** से सम्बन्ध मिलाया जा सकता है।

१३. **प्रभावकचरित्र** २२, १३ :—

> सा कोऽच्चूडामणिश्चिन्तामणिं स्वप्नेऽन्यदैक्षत।
> दत्तं निजगुरूणां च भक्त्या……वेशतः॥ १३॥
> चं [चान्] द्रगच्छसरः पद्मं तत्रास्ते मण्डितो गुणैः।
> प्रद्युम्नसूरिशिष्यश्रीदेवचन्द्रमुनीश्वरः॥ १४॥
> आव [च] ख्यौ पाहिनी प्रातः स्वप्नमस्वप्नसूचितम्।

तत्पुरः स तदर्थं व[च] शास्त्रदृढ [दृष्टं] जगौ गुरु[:]॥२५॥
जैनशासनपाथोधिकौस्तुभः संभवी सुतः।
ते च स्तं [स्त] बकृतो यस्य देवा अपि सुवृत्ततः ॥ २६ ॥
श्रीवीतरागाविंवी [बिम्बा]नां प्रतिप्रादोहदं दधौ।......
तस्याथ पंचमे वर्षे वर्षीयस इवाभवत्।
मतिः सद्गुरुशुश्रूषाविधौ विधुरितैनसः॥ २५ ॥
अस्य[न्य] दा मोढचैत्यान्तः प्रभूणां चैत्यवन्दनम्।
कुर्वतां पाहिनी प्रायात् म [स] पुत्रा तत्र पुण्यभूः ॥ २६ ॥
सा च [च] प्रादक्षिण्यं दत्ता यावर्कु [त्कुर्यात्] स्तुतिं जिने।
चंगदेवो निषद्यायां तावान्न[न्य]वि[वी]विशद्गु:[गुरोः]। २७॥
स्मरसि त्वं महास्वप्नं यं तदाल्योकयिष्यसि [लोकवत्यसि]।
तस्याभिज्ञानानमीक्षस्य स्वयं पुत्रेण ते कृतम् ॥ २८ ॥
इत्युक्त्वा गुरुभिः पुत्रः सघनदेन नंदनः [संघानंदविवर्धनः ?]।
कल्पवृक्ष इवाप्राथि स जनन्या [:] समीपतः ॥ २९ ॥
सा प्राह प्राथ्र्यतामस्य पिता युक्तमिदं ननु।
ते तदीयाननुज्ञाया भीताः किमपि नाभ्यधुः ॥ ३० ॥
अलंघ्यत्वाद् गुरोर्वाच [।] माचारस्थितया तथा।
दूनयापि सुतस्नेहादार्प्यत स्थ[स्व] प्नसंस्मृतेः ॥ ३१ ॥
तमादाय स्तम्भत [ी] र्थे जग्मुः श्रीपार्श्वमन्दिरे।
माघे सित चतुर्दश्यां ब्राह्मे धिष [ण] ये शते [ने] दिंने ॥३२॥
[धि] ष्ण्ये तथाष्टमे धर्मस्थिते चन्द्रे वृषोपगे।
लग्ने बृस्यतौनु [?] स्थितयो [:] सूर्यभोमयोः ॥ ३३ ॥
श्रीमानुदययनस्तस्य दीक्षोत्सवमकारयत्।
सोमचन्द्र इति ख्यातं नाम् [मा] स्य गुरवो ददुः ॥ ३४ ॥

इण्डियन एंटीकवेरी भाग १२ पृ. २५४ टिप्पण ५५ में **क्लाट** द्वारा उद्धृत श्लोक जिनमें हेमचन्द्र के जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाएं दी हैं, इस प्रकार हैं :-

शरवेदेश्वरे ११४५ वर्षे कार्तिके पूर्णिमानिशि।
जन्माभवत् प्रभोर्व्योमबाणशम्भौ ११५० व्रतं तथा ॥ ८५२ ॥

रसषड् [डी] श्वरे ११६६ सूरिप्रतिष्ठा [ष्ठा] समजायत ।
नन्दद्वयरवौ १२२६ वर्षेवसानमभवत् प्रभोः ॥ ८४३ ॥

१४. प्रबन्धचिन्तामणि [पृ० २०७] में मेरुतुंग मन्त्री उदयन द्वारा हेमचन्द्र के बाल्यकाल की कथा इस प्रकार कहलवाता है :—

अन्यदा श्रीहेमचन्द्रस्य लोकोत्तरैर्गुणैरपहृतहृदयो नृपतिमन्त्रिश्रयुदयनमिति प्रपच्छ। यदीदृशं पुरुषरत्नं समस्तवंशावतंसे वंशे देशे च समस्तपुण्यप्रवेशिनि निःशेषगुणाकारे नगरे च कस्मिन् समुत्पन्नमिति । नृपादेशादनु स मन्त्री जन्मप्रभृति तच्चरित्रं पवित्रमित्यमाह । अर्धाष्टमनामनि देशे धन्धुक्काभिधाने नगरे श्रीमन्मोढवंशे चाचिगनामा व्यवहारी। सतीजनमतल्लिका जिनशासनदेवीव तत्सधर्मचारिणी शरीरिणीव श्रीः पाहिणीनाम्नी । चामुण्डगोत्रजयोराद्याक्षरेणांकितनामा तयोः पुत्रश्चांगदेवः समजनि । स चाष्टवर्षदेश्यः श्रीदेवचन्द्राचार्येषु श्रीपत्तनात्प्रस्थितेषु धन्धुक्के श्रीमोढवसहिकायां देवनमस्करणाय प्राप्तेषु सिंहासनस्थित तदीयनिषद्याया उपरि सवयोभिः शिशुभिः समं रममाणः सहसा निषसाद । तदंगप्रत्यंगानां जगद्विलक्षणानि लक्षणानि निरीक्ष्य । अयं यदि क्षत्रियकुले जातस्तदा सार्वभौमश्चक्रवर्ती । यदि वणिग्विप्रकुले जातस्तदा महामात्यः । चेद्दर्शनं प्रतिपद्यते तदा युगप्रधान इव तुर्ये युगेऽपि कृतयुगमवतारयति । स आचार्य इति विचार्य तन्नगरवास्तव्यैर्व्यवहारिभिः समं तल्लिप्सया चाचिगगृहं प्राप्य तस्मिश्चाचिगे ग्रामान्तरभाजि तत्पत्न्या विवेकिन्या स्वागतादिभिः परितोषितः श्रीसंघस्त्वत्पुत्रं याचितुमिहागत इति व्याहरन् । अथ सा हर्षाश्रूणि मुंचन्ती स्वं रत्नगर्भं मन्यमाना । श्रीसंघस्तीर्थकृतां मान्यः स मत्पुत्रं याचत इति हर्षास्पदे विषादः । यत एतत्पिता नितान्तमिथ्यादृष्टिः । अपरं तादृशोऽपि सम्प्रति ग्रामे न । तैः स्वजनैस्त्वया दीयतामित्यभिहिते स्वदोषोत्तरणाय मात्रामात्रं गुणपात्रं पुत्रस्तेभ्यो गुरुभ्यो ददे। तदनन्तरं तया श्रीदेवचन्द्रसूरिरिति तदीयमभिनिधानमबोधि। तैर्गुरुभिः सोऽपि शिशुः शिष्यो भविष्यसीति पृष्ट ओमित्युच्चरन् प्रतिनिवृत्तैस्तैः समं कर्णावत्यामाजगाम । मन्त्र्युदयनगृहे तत्सुतैः समं बालधारकैः पाल्यमानो यावदास्ते तावता ग्रामान्तरादागतश्चाचिगस्तं वृत्तान्तं परिज्ञाय पुत्रदर्शनावधि संन्यस्तसमस्ताहारस्तेषां गुरूणां नाम मत्वा कर्णावतीं प्राप्य तद्वसतावुपेत्य कुपितोऽपि तानीषत् प्रणम्य गुरुभिः सुतानुसारेणोपलक्ष्य विचक्षणतया विविधाभिरावर्जनाभिरावर्जितस्तत्रानीतेनोदयनमंत्रिणा धर्मबन्धुबुद्धया निजमन्दिरे नीत्वा

ज्यायःसहोदरभक्त्या भोजयाचक्रे। तदनु चांगदेवसुतं तदुत्संगे निवेश्य पंचांग-प्रसादसहितं दुकूलत्रयं प्रत्यक्षलक्षत्रयं चोपनीय सभक्तिकमावर्जितस्तं प्रति चाचिगः प्राह। क्षत्रियस्य मूल्येऽशीत्यधिकसहस्रं तुरगस्य मूल्ये पंचाशदधिकानि सप्तदश शतानि। अकिंचित्करस्यापि वणिजो मूल्ये नवनवतिकलभाः। एतावता नवनवति-लक्षा भवन्ति। त्वं तु लक्षत्रयमर्पयन्नौदार्यच्छना कार्पण्यं प्रादुष्कुरुषे। मदीयः सुतस्तावदनर्घ्यो भवदीया च भक्तिरनर्घ्यतमा। तदस्य मूल्ये सा भक्तिरस्तु। शिव-निर्माल्यमिवास्पृश्यो मे द्रविणसंचयः। इत्थं चाचिगे सुतस्य स्वरूपमभिदधाने प्रमोदपूरितचित्तः समन्त्र्यकुण्ठोत्कण्ठतया तं परिरम्भ्य साधु साध्विति वदन् श्रीमान् उदयनः प्राह। मम पुत्रतया समर्पितो योगिमर्कट इव सर्वेषां जनानां नमस्कारं कुर्वन् केवलमपमानपात्रं भविता। गुरूणां दत्तस्तु गुरुपदं प्राप्य बालेन्दुरिव त्रिभु-वननमस्करणीयो जायते। यथोचितं विचार्य व्याहरेत्यादिष्टः स भवद्विचार एव प्रमाणमिति वदन गुरुपार्श्वे नीतः सुतं गुरुभ्योदीदपत। तदनु सुतस्य प्रव्रज्याकरणो-त्सवश्चाचिगेन चक्रे॥

उपर्युक्त पाठ छपे संस्करण के पाठ से ठीक-ठीक नहीं मिलता है। उपर्युक्त मूल में कुछ अच्छे पाठान्तर अन्य प्रतियों से मिला दिये गये हैं। मेरुतुंग की भाषा और साधारणतया संपूर्ण **प्रबन्धचिन्तामणि** की भाषा गुजराती मुहावरों से ओतप्रोत है। वसाहिका शब्द जो ऊपर के संस्कृत पाठ की पंक्ति ८ में आया है, उसका उपयोग "मकानों का वह समूह जिसमें जिन मंदिर और उपाश्रय दोनों हों", के अर्थ में किया गया है। दिगम्बर जैनो में प्रयुक्त शब्द **बस्ती** या **बसति** से यह मिलता जुलता है।

१५. **प्रबन्धकोश** पृष्ठ ९८ आदि :

ते विहरन्तो धुन्धुकपुरं गूर्जरधरासुराष्ट्रामध्यस्थं गताः। तत्र देशनाविस्तरः। सभायामेकदा नेमिनागनामा श्रावकः समुत्थाय देवचन्द्रसूरिन् जगौ। भगवन्नयं मोढज्ञातीयो मद्भगिनीपाहिणीकुक्षिसूक्तकुरचाधि [चि] कनन्दनश्चांगदेवनामा भवतां देशनां श्रुत्वा प्रबुद्धो दीक्षां याचते। अस्मिंश्च गर्भस्थे मम भग [गि] न्या सह-कारतरुः स्वप्ने दृष्टः। स च [च] स्थानान्तरे गुप्तस्तत्र महतीं फलस्फातिमयासीत स्म। गुरव आहुः। स्थानान्तरगतस्यास्य महिमा प्रैधिष्यते। महत् पात्रमसौ योग्यः सुलक्षणो दीक्षणीयः। केवलं पित्रोरनुज्ञा प्राप्या। गतौ मातुलभाग् [गि] नेयौ

पाहिणी [णी] वाचि [चि] कान्तिम् । उक्ता व्रतवासना । कृतस्ताभ्यां प्रतिषेधः । करुणवचनशतैश्चांगदेवो दीक्षां लली ।

१६. यद्यपि कथानक में कोई नई बात नहीं कही गई है, तथापि मैं **कुमारपालचरित्र** से वह विशेष अंश यहाँ इसलिए दे रहा हूँ कि उदाहरण सहित यह बता दिया जाय कि जिनमण्डन अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कृतियों का उपयोग करने का अभ्यस्त है। प्रति सं० २९६ पृ. २७–३१ के अनुसार जिस कथानक में **प्रबन्धकोश** (देखो टिप्पण १०) से लिया गया देवचन्द्र संबंधी प्रतिवेदन उपोद्घात रूप में दिया गया है, वह इस प्रकार है :—

श्री देवचन्द्रसूरय एकदा विहरन्तो धन्धूकपुरे प्रापुः । तत्र मोढवंशे वा [चा] चिक श्रेष्ठी [ष्ठी] पाहिना [नी] भार्या । तयान्येद्युः स्वप्ने चिन्तामणिर्दृष्टः परं गुरुभ्यो दत्तः । तदा तत्रागतः [ताः] श्रीदेवचन्द्रगुरवः पृष्टाः स्वप्नफलम् । गुरुभिरूचे । पुत्रो भावी तव चिन्तामणिमु [मू] ल्यः । परं स सूरिराड् जैनशासनभासको भविता गुरूणां रत्नदानादिति । गुरुवचः श्रुत्वा मुदिता पाहिनी तद्दिने गर्भं बभार । संवत् ११४५ कार्तिक पूर्णिमारात्रिसमये पुत्रजन्मः [म] ।

तदा वागशरीरासीद्व्योम्नि [श्रीभाढ्ये] [भाढ्यः] स तत्ववित् ।
निज [जिन] व जिनधर्मस्य स्थापकः सूरिसे [शे] श्वरः ॥ १ ॥

जन्मोच्छ [त्स] वपूर्वं चांगदेवेति नाम दत्तम् । क्रमेण पंचवार्षिको मात्रा सह मोढवसहिकायां देववन्दनायागतो बालचापल्यस्वभावेन देवनमस्कारणार्थ मागतं [त-] श्रीदेवचन्द्रगुरुनिषद्यायां निषण्नः [ण्णः] । तथा दृष्ट्वा गुरुभिरूचे पाहिना [नि] । सुश्राविके स्वरसि स्वप्नविचारं पूर्वकथितं संवादफलम् । बालकांगलक्षणानि विलोक्य मातुरग्रेकथि । यद्ययं क्षत्रियकुले तदा सार्वभौमो नरेन्द्र [:] । यदि ब्र [ब्रा] ह्मणवणिक्कुले तदा महामात्यः । च् [चे] द् दीक्षां गृह्णाति तदा युगप्रधान इव तुर्ये युगे कृतयुगमवत् [ता]रयतीति । सा पाहिनी गुरुवचोमृतोल्लासिता ससुता गृहं गता । गुरवोऽपि शालायामागत्य श्रीसंघमाकार्य गता [:] श्रावका [:] श्र [श्रे] ष्ठि [ष्ठि] गृहे । वाचि [चाचि] के ग्रामान्तरं गते वा [पा] हिन्या श्रीसंघो गृहागतः स्वागतकरणादिना तोषितः । मार्गितश्चं [श्चां] गदेवः। दृष्टा पाहिनी हर्षाश्रूणिमुंचन्ति [न्ती] स्वां रत्नगर्भा मन्यमानापि चिन्तातुरा जाता । एकत एतत्पिता मिथ्यादृष्टिः । तादृशोऽपि ग्रामे नास्ति । एकतस्तु श्रीसंघो गृहागतः पुत्रं याचत इति किं कर्तव्यं मूढचित्ता क्षणमभूत् । तट [द] नु ॥

कल्पद्रुमस्तस्य गृहेऽवतीर्णश्चिन्तामणिस्तस्य करे लु [लु] लोठ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीरपि तां वृण [णो] ते गृहांगणं यस्य पुनीते संघः ॥१॥
तथा ॥

उर्वी गुर्वी तदनु जलदः सागरः कुम्भजन्मा
व्य [व्यो] मा [मा] तौ रविहिमकरौ तौ च यस्यांह्रिपीठे।
स प्रौढश्रीर्जिनपरिवृढः सोऽपि यस्य प्रणन्ता
स श्रीसंघस्त्रिभुवनगुरुः कस्य क [किं] स्यान्न मान्यः ॥२॥

इति प्रत्युम्न[त्प]न्नमतिर्माता श्रीसंघेन सम [मं] गुरून कल्पतरूनिव गृहागताञ् ज्ञात्वावसरज्ञा स्वजनानुमतिं लात्वा नि [ज] तुं [पु] त्रं श्रीगुरुभ्यो ददौ। ततः श्रीगुरुभिः श्रीसंघसमक्षम्। ह [हे] वत्स श्रीत [ती] र्थंकरचक्रवत्ति [तिं] गणधरैरा-सेवितां सुरासुरनिकरनायकमहन्यां [नीयां] मुक्तिकान्तास [सं] गमदूत [तीं] दीक्षां त्वं लास्यसीति प्रोक्ते। स च कुमारो प्राग्भ [भाव] चारित्रावरणीयकर्मक्षयोपस [श] मेन संयमश्रवणमात्रसंजातपरसंवेगः सहं [ह] सा ओमित्युवाच। ततो मात्रा स्वजनैश्चानुमतं पुत्रं संयमानुरागपवित्रं ज्ञात्वा श्रीतीर्थयात्रां विधाय कर्णावर्ती जग्मुः श्रीगुरवः। तत्रोदयनमंत्री गृहे तत्सुतैः सम बालधारकैः पाल्यमानः सकलसंघलोक-मान्यः संयमपरिणामधन्यो वैनयिकादिगुणविज्ञो यावदास्ते तावता ग्रामान्तरादाग-तश्चाचिगः पत्नीनिचे [वे] दितश्रीगुरुसंघागमपुत्रार्पणादिवृत्तान्तः पुत्रदर्शनावधि [सं] न्यस्ताहारः कर्णावत्यां गतः। तत्र वन्दिता गुरवः। श्रुत्वा [ता] धर्मदेशना। सुतानुसारेणोपलक्ष्य विचक्षणतयाभाणि श्रीगुरुभिः।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च तेन।
अवाक्यमार्गे सुखसिन्धुमग्ने
लीनं परब्रह्मणि यस्य चेतः ॥ १ ॥

कल [लं] कं कुरुते कश्चित् कुलेऽतिविमले सुतः।
धननाशकरः कश्चिद् व्यसनैर्गुणनाशनैः ॥ २ ॥
पित्रोः संतापकः कोऽपि यौवने प्रच [प्रेय] सीमु [सु] खः।
बाल्येऽपि नि [म्रि] यते कोऽपि स्यात् कोऽपि विकलेन्द्रियः ॥ ३ ॥
सर्वाङ्गसुंदरः किं तु ज्ञानवान् गुणनीरधिः।
श्रीजिनेन्द्रपथाध्वयः [न्यः] प्राप्यते पुण्यतः सुतः ॥ ४ ॥

इति श्रीगुरुमुखादाकर्ण्य संजातप्रम्द [मोदः] प्रसन्नचित्तश्चाचिगस्तत्र श्रीगुरुपदा [पादा] रविन्दनमस्यायै समायातेनोदयनमन्त्रिणा धर्मबान्धवधिया निजगृहे नीत्वा भोजयांचक्रे । तदनु चङ्ग [चांग] देवं तदुच्छ [त्स] ङ्गे निवेश्य पंचांगप्रसाद-पूर्वकं दुकल [कूल] त्रयं चोपनीय सभक्तिकमार्वति [र्जि] तश्चाचिगः सानन्दं मंत्रिणमवादृत [दीत] । मंत्रिन क्षत्रियस्य मूल्येशीत्यधिकः सहस्रः १०८० । अश्वमूल्ये पंचाशद [शद] धिकानि सप्तदश शतानि [Sic !] सामान्यस्यापि वणिजो नवनवति ९९ गजेन्द्राः । एतावता नवनवतिलक्षा भवन्ति । त्वं तु लक्षत्रयमर्पयन् स्थूललक्षायसे । अतो मद्धु [त्सु] तोनर्घ्यस्त्वदीया भक्तिस्त्वन-र्घ्यतमा । तदस्य मूल्ये सा भक्तिरस्तु । न तु मे द्रव्येण प्रयोजनमस्य [स्य] स्पर्श्यमेतन् मम शिवनिर्माल्यमिव । दत्तो मया पुत्रो भवतामिति । चाचिगवचः श्रुत्वा प्रमुदितमना मन्त्री तं पर [रि] रभ्य साधु युक्तमेतदिति वदन् पुनस्तं प्रत्युवाच । त्वयायं पुत्रो ममार्पितः । परं योग [गि] मर्कट इव सर्वेषामप् [पि] जनानां नमस्कारं कुर्वन् केवलमपत्रपापात्रं भविता । श्रीगुरूणां तु समर्पितः श्रीगुरु-पदं प्राप्य बाल् [ले] न्दुरिव महती [तां] महनीयो भवतीति विचार्यतां यशो [थो] चितम् । ततः स भवद्विचार एव प्रमाणमिति वदनस् [स] कलश्रीसंघ-समक्षं रत्नकरण्डमिव रक्षणीयमुद् [दु] म्बरपुष्पमिव दुर्लभं पुत्रं क्षमाश्रमण-पूर्वकं गुरूणां समर्पयामास । श्रीगुरुभिरभाणि ।

> धनधान्यस्य दातार [:] सन्ति क्वचन केचन ।
> पुत्रभिक्षाप्रदः कोऽपि दुर्लभः पुण्यवान् पुमान् ।। १ ।।
> धनधान्यादिसंपत्सु लोके सारा न् [तु] संततिः ।
> [तत्रापि] पुत्ररत्नं तु तस्य दानं महत्तमम् ॥ २ ॥
> स्वर्गस्थाः पितरो वा [वी] क्ष [क्ष्य] दीक्षितं जिनदीक्षया ।
> मोक्षाभिलाषिणं पुत्रं तृप्ता [:] स्युः स्वर्गसंसदिन् [दि] ।। ३ ॥

महाभारतेप्यभाणि ।

> तावद् भू [भ्र] मन्ति संसारे पितरः पिण्डकांक्षिणः ।
> याव [त्] कुले विशुद्धात्मा यती [तिः] पुत्रो न जायते ॥ १ ॥

इति श्रुत्वा प्रमुदितेन चाचिगेनोदयनमन्त्रिणा च प्रव्रज्यामहोत्सवः [वः] कारितः । सोमदेवमुनिर्नाम दत्तं क्वचित् सोमचन्द्रमुनिरिति वा । श्रीविक्रमात् ११४५ श्रीहेमसूरीणां [णां] जन्म । ११५४ दीक्षा च ।

इस वर्णन के अन्तिम अंश का मूल पाठ हस्तलिखित प्रति में बड़ा अव्य-वस्थित है, क्योंकि किसी मूर्ख प्रतिलिपिकार ने हाशिये पर लिखे गये संपूरकांश को गलत क्रम से मूल में प्रवेश कर दिया है। कृति के अंत में पृ. २८३ पर हेमचन्द्र के जीवन की प्रधान घटनाओं की तिथियाँ फिर से दी गयी हैं। **प्रभावक-चरित्र के** अन्त की भाँति ही वहाँ हम पढ़ते हैं—

संवत् ११४५ कार्तिकपूर्णिमानिशि जन्म श्रीहेमसूरीणां।
संवत् ११५० दीक्षा संवत् ११६६ सूरिपदं संवत् १२२९ स्वर्गः।

पृ. ५ में जो अभिप्राय दर्शाया गया है, उसको ठीक प्रमाणित करने को जिनमण्डन के लिए ये तथ्य पर्याप्त होंगे और इनसे यह भी सिद्ध हो जायगा कि उसका लिखा हुआ चरित्र आधार के लिए एक दम निकम्मा है सिवा उन अंशों के जो कि उसने किन्हीं अप्राप्त ग्रंथों से उद्धृत किये हैं।

१७. उपर्युक्त वर्णन उन खोजों के आधार पर दिया गया है, जो कि मैंने पश्चिम भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में सन १८७३-१८७९ ई० में की थी। पहले पहल राजपूताने में ही किसी व्यक्ति से मैंने सुना कि कितने ही यति लोगों का अस्तित्व तो, जिनसे कि मैंने परिचय किया था और जिनमें से एक तो अति महत्वपूर्ण स्थिति को प्राप्त थे, ब्राह्मण विधवाओं की भूल का परिणाम था। फिर सन १८७७ ई० में खेड़ा के यतियों से मुझे इस बात का समर्थन प्राप्त हुआ और उन्होंने अपने चेलों की माताओं के नाम भी निर्भीकता से बताये और यह भी बताया कि ये चेले उन्हें किनसे प्राप्त हुए थे। सन् १८७३ ई० में राज-पूताना के नाडोल नगर में एक ऐसा मामला भी मेरे जानने में आया, जिसमें किसी यति ने एक अनाथ शिशु को सन् १८६८-१८६९ के अकाल के समय अपनाकर भूखों मर जाने से उसकी रक्षा की थी। यह शिशु जो अपने गुरु के साथ मुझसे मिलने आया था, उस समय लगभग आठ वर्ष का था। उसने कई सूत्रांश और स्तोत्र तब तक सीख लिये थे और दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ के पाठ एवं भक्तामरस्तोत्र शुद्ध उच्चारण के साथ मुझे सुनाया था। उसको छोटी दीक्षा भी तब तक नहीं दी गई थी। एक दूसरा मामला सूरत में सन् १८७५ या १८७६ में मेरे सुनने में आया, जिसमें एक मातापिता ने, एक साधु के मांगने पर एक छोटा जैन शिशु, शिष्य और जैन यति बनाने

के लिए दे दिया था। जब मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया तो दूसरे नगरों के यतियों और श्रावकों ने भी यह इन्कार नहीं किया कि जैन साधु-संस्था के लिए 'रंगरूट' प्राप्त करने की यह परम्परा जैन शास्त्रों की भावना के अनुरूप नहीं है। और उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि इस दुषम काल या कलियुग में वे यथा संभव अच्छी रीति ही से अपने वर्ग की क्षतिपूर्ति कर रहे थे।

१८. कर्णावती की स्थिति के लिए देखो के. **फारबस** की **रासमाला** पृ० ७९-८० और विशेष रूप से टिप्पण सं १। उदयन की देशान्तर से आने की बात **प्रबन्धचिन्तामणि** पृ० १३६-१३८ और **कुमारपालचरित्र** पृ० ६७-६८ में दी गयी है। पहले ग्रन्थ में कहा गया है कि ऊदा या उदयन मारवाड़ से गुजरात में घी खरीदने आया था। शुभ शकुन ने उसे परिवार सहित कर्णावती में बस जाने की प्रेरणा दी। उसने वहाँ धन कमाया और जब वह एक नये गृह की नींव खुदवा रहा था, तो उसे वहाँ धन का चरू (घड़ा) मिल गया था। परिणाम स्वरूप उदयन का मन्त्री के नाम से परिचय दिया जाने लगा और वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया। उसने 'उदयनविहार' नाम से कर्णावती में एक जैन मन्दिर भी निर्माण कराया था। उसकी अनेक पत्नियों से उसे चार पुत्र थे :—वाहड़देव [वाग्भट्ट], आंबड़ [आम्रभट्ट], बोहड़ और सोल्लाक। पिछले दोनों पुत्रों के नामों में भिन्न-भिन्न पोथियों में कुछ फरक है। जिनमण्डन ने मेरुतुंग का वर्णन ही दोहरा दिया है, परन्तु वह इतना और भी कहता है कि उदयन श्रीमाली जाति का था और सिद्धराज द्वारा स्तम्भतीर्थ में मन्त्री नियुक्त किया गया था [ततः सिद्धेशेन स्तम्भतीर्थे मन्त्री कृतः]।

१९. **प्रबन्धचिन्तामणि** पृ० २३२ और ऊपर पृ० ४६।

२०. **हेमसूरिप्रबन्ध** के प्रारम्भ में ही देवचन्द्रसूरि का वर्णन है। राणा यशोभद्र के धर्म परिवर्तन की कथा को छोड़कर, वहाँ ऐसा लिखा है—

पूर्ण [चन्द्र] गच्छे श्रीदत्तसूरिप्राज्ञो वागडदेशे वटभद्रं पुरं गतः। तत्र स्वामी यशोभद्रनामा राणक ऋद्धिमान्। तत्सौधान्तिक उपाश्रयः श्राद्धैर्दत्तः। रात्रावुन्मुद्‌चन्द्रातपायां राणकेन ऋषयो दृष्टा उपाश्रये निषण्णः।............तस्य राणश्रीयशोभद्रस्य गीतार्थत्वात् सूरिपदं जातं श्रीयशोभद्रसूरिरि[ति] नाम। तदीयपट्टे प्रद्युम्नसूरिर्ग्रन्थकारः। तत्पदे श्रीगुणसेनसूरिः। श्रीयशोभद्रसूरिपट्टे

[!] श्रीदेवचन्द्रसूरयः । ठाणवृत्तिशान्तिनाथचरितादि महाशास्त्रकरणनिर्व्यूढप्र-[प्रा]ज्ञप्राग्भाराः······ ।

राजशेखर के वृत्तांत का अंश, जो इसके बाद ही दिया गया है, ऊपर टिप्पण १५ में दिया ही जा चुका है। **कुमारपालचरित्र** पृ० २५ आदि में जिनमण्डन ने राजशेखर के वृत्तांत का पुनरावर्तन कर दिया है। प्रारम्भ पृ० २५ पंक्ति २ में इस प्रकार है :—कोटिकगणे वज्रशाखायां चन्द्रगच्छे श्रीदत्तसूरयो विहरन्तो वागडदेशस्थः वटपद्रपुरे प्रापुः। गुरुपरम्परा नीचे लिखी दी है :—तत्पट्टे प्रद्युम्नसूरिः। तच्छिष्यः श्रीगुणसेनसूरिः। तत्पट्टे श्रीदेव-चन्द्रसूरयः॥ बागड नाम पुराना है और आज भी कच्छ के पूर्वी भाग के लिए यही नाम प्रयुक्त होता है। हेमचन्द्र स्वयम् का ही वर्णन पीछे पृ० १६ और आगे टिप्पण ६६ में दिया गया है। देवचन्द्र के **शांतिनाथचरित्र** सम्बन्धी देवसूरि के वृत्त के लिए देखो टिप्पण १ पृष्ठ ९६।

२१. **प्रबन्धचिन्तामणि** पृ० २३९ आदि। हेमचन्द्र सुवर्णसिद्धि सीखना चाहते थे, क्योंकि कुमारपाल, संवत् चलानेवाले अन्य राजाओं की ही भाँति, संसार को ऋणमुक्त कर देने का आकांक्षी था। देखो पृ० १७ पीछे। देवचन्द्र का नाम मूल में नहीं दिया है। **हेमचन्द्रगुरु** इतना ही वाक्य वहाँ प्राप्त है।

२२. हेमचन्द्र के विद्यार्थी-काल के सम्बन्ध में **प्रभावकचरित्र** में ये गाथाएँ महत्वपूर्ण हैं :—

सोमचन्द्रस्ततश्चन्द्रोज्ज्वलप्रज्ञाबलादसौ ।
तर्कलक्षणसाहित्यविद्या [:] पर्यच्छि [च्छि]नद् द्रुतम् ॥ ३७ ॥
प्रभावकधुराधुर्यममुं सूरिपदोचिन्तं: [चितम्] ।
विज्ञाय स[सं]घमासव्य [मामन्त्र्य]मु [गु]रवोमन्त्रयन्निति ॥४७॥
योग्यं शिष्यं पदे न्यस्य स्वयं कार्य[क]र्तुमौचिती ।
अस्मत्पूर्वेसुम्[षाम्] आचारा[:] सदा विहि[दि]नपूर्विका[म्]॥४८॥
तदैव विज्ञदैवज्ञव्रताल्लग्नं व्यावा[चा]रयन् ।
मुहूर्त[र्ते]पूर्वनिर्णीते त्त[कृ]तनन्दीविधिक्रमा: ।
ध्वनच्[त्त]र्यरवोन्मुद्रमंगला[ला]चारबन्धुरं: [रा:] ॥ ५६ ॥
शब्दाद्वैतेथ विश्रान्ते समाय[मये] योमि[चोषि]ते सति ।

पूरकापूरि[त]स्वाम[स्वर्ण]कुम्भकोद्भेदमेदुराः ॥ ५७ ॥
अवयोगुरुकपूरचन्दनद्रवचर्चिते ।
कृतिनः सोमचन्द्रस्य[ब्रह्म]निष्ठा [ष्ठा]न्तरात्ममः [नः] ॥५८॥
श्रीगौतमादिसूर [रि] शैराराधितमा[म]बाधितम् ।
श्रीदेवचन्द्रगुरवः सूरिमन्त्रमचीकथनः [थन्] ॥ ५९ ॥
पंचभिः कुलकम् ॥

तिरस्कृतकलाकेलिः कलाकेलिकुलाश्रयः ।
हेमचन्द्रप्रभु [:] श्रीमन्नाम्ना विख्यातिमाप सः ॥ ६० ॥
तदा च पाहिनी स्नेहवाहिनी सु [सु] त उत्तमे ।
तत्र चारित्रमादत्ताविहस्ता गुरुहस्ततः ॥ ६१ ॥
प्रवर्तिनी [नीं] प्रतिष्ठां [ष्ठां] च दापयामास नम्रगीः ।
तदैवा निवाचार्यो [?] गुरुभ्यः सभ्यसाक्षिकम् ॥ ६२ ॥
सिंहासनासनं तस्या अन्वमानयदेष च ।
कटरे [?] जननीभक्तिरुत्ताम्नां [माना]श्चो [कषो] पलः ॥६३॥

यात्रा का वर्णन छोड़ दिया गया है, क्योंकि अधिकांश गाथाओं का अंगभंग बहुत बुरी तरह हो गया है। इस वर्णन की गाथाएँ ३८–४६ हैं। मेरुतुंग ने यह वर्णन बहुत संक्षेप में ही किया है। ऊपर टिप्पण १५ का अंश इस प्रकार समाप्त किया गया है—

अथ च कुम्भयोनिरिवाप्रतिमप्रतिभानिरामतया समस्तवाङ्मयाम्भोधिमुष्टिंधयो भ्यस्तसमस्तविद्यास्थानो हेमचन्द्र इति गुरुदत्तनाम्ना प्रतीतः सकलसिद्धान्तोपनिषन्नि-षण्णधीः षट्त्रिंशता गुणैरलंकृततनुर्गुरुभिः सूरिपदेभिषिक्तः। इति मन्त्र्युदयनोदितं जन्मप्रभृति वृत्तान्तं आकर्ण्य नृपतिर्मुमुदेतराम् ॥

इसलिए प्रतीत होता है कि मेरुतुंग इनका अपर नाम सोमचन्द्र नहीं जानता। हेमचन्द्र के बाल्य जीवन का विवरण कुमारपाल को उदयन ने कहा था। उसके इस कथन में काल-गणना की एक भारी भूल है। उदयन ने गुजरात में विक्रम संवत् ११५० में देशान्तर किया था और कुमारपाल वि. सं. ११९९ में राज्या-सीन हुआ था। इसके पहले कुमारपाल कितने ही युद्ध लड़ चुका था, ऐसा भी माना जाता है। इसलिए उदयन का तब तक जीवित रहना संभव नहीं लगता है।

जिनमण्डन कृत कुमारपालचरित्र पृ. ३१ पंक्ति १२ से पृ. ३६ पंक्ति ५ तक में हेमचन्द्र के शिशुक्षिता समय की कितनी ही बातें कही गई हैं, परन्तु वे असम्भव सी हैं। पृ. ३१-३२ में कहा है कि सोमदेव को हेमचन्द्र नाम इसलिए दिया गया था कि अपनी शिशुक्षिता के आदि में उन्होंने कोयले को धन नाम के एक श्रेष्ठि के घर पर सुवर्ण कर दिया था। परन्तु प्रभावकचरित्र से प्रधानतया सहमति बता कर वह स्वतः (पृ. ३६) इसका विरोध भी कर देता है। फिर एक यात्रा और एक देवीदर्शन के स्थान में वह सोमचन्द्र की दो यात्रा की बात कहता है। पहली यात्रा कश्मीर को होनेवाली थी और दूसरी देवेन्द्र और सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरि के साथ। देवीदर्शन में पहली बार देवी सरस्वती साक्षात प्रकट होती है और दूसरी बार शासन देवता। अन्त में हमसे यह कहा जाता है कि उनके गुरु एवम् जैन संघ के आदेश से धनद नाम का एक बनिया उनको आचार्य पदवी वि. सं. ११६६ में प्रदान कराता है। जिनमण्डन में तीन बार तिथियाँ दी गई हैं और वे हर समय एक सी ही हैं एवम् प्रभावकचरित्र की पूर्व कथित गाथा की तिथियों से मिलती हैं। भंडारकर-खोज प्रतिवेदना आदि १८८३-८४ पृ. १४ से भी तुलना करें।

२३. अलंकारचूडामणि १, ४ :

मन्त्रादेरौपाधिके ॥ ४ ॥

मन्त्रदेवतानुग्रहादिप्रभवोपाधिकी प्रतिभा । इयमप्यावरणक्षयोपशमनिमित्तैव दृष्टोपाधिनिबन्धनत्वात्त्वौपाधिकीत्युच्यते ॥

२४. प्रभावकचरित्र २२, ६४–७३ :

श्रीहेमचन्द्रसूरिः श्रीसंघसागा [ग] रकौस्तुभः ।
विजहारान्यदा श्रीमदणहिल्लपुर [रं] पुरम् ॥ ६४ ॥
श्रीसिद्ध [भू] भृदन्येद्यू राजपाटिकाय व [च] रन् ।
हेमचन्द्रप्रभु [भुं] वीक्ष्य तटस्थविपणिस्थितम् ॥ ६५ ॥
निरुध्य टिम्व [म्ब] कासन्ने ज [गज] प्रसरमंकुशात [त्] ।
किंचिद् भणिष्यते [थे] त्याह प्रोवाच प्र [भु] रप्यथ ॥ ६६ ॥
कारय प्रसरं सिद्ध हस्तिराजमशंकितम् ।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तै[तैर्]भूस्त्वयैवोद्धृति[ता]यतः ॥६७॥

श्रुत्वेति भूपतिः प्राह तुष्टिपुष्टः सुधीश्वरः ।
मध्याह्ने मे प्रमोदायागन्तव्यं भवता सदा ॥ ६८ ॥
तत्पूर्व दर्शनां [नं] तस्य जज्ञे कुत्रापि म [त] क्षणे ।
आनन्दमन्दिरे राज्ञा यत्राजर्यमभूत प्रभोः ॥ ६६ ॥
अन्यदा सिद्धराजोपि जित्वा माल्व [लव] मण्डलम् ।
समाजगाम तस्मै वा [चा] शिषं दर्शनिनो ददुः ॥ ७० ॥
तत्र श्रीहेमचन्द्रोपि सूरिर्भूरिकलानिधिः ।
उवाच काव्य [म] व्यप्रमतिश्र [श] यनिदर्शनम् ॥ ७१ ॥
तथा हि ।
भूमिं कामगवि स्वगोमयरसैरासिंच रत्नाकरा
मुक्तास्वस्तिकमातनुष्वमुडुप त्वं पूर्णकुम्भीभव ।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा—
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वैति सिद्धाधिपः ॥ ७२ ॥
व्याख्याविभूषिते वृत्ते [हेमचन्द्र] द्रविभोस्ततः ।
आजुहावावनीयात [पालः] सूरिं सौधे पुनः पुनः ॥ ७३ ॥

प्रबन्धचिन्तामणि और नीचे के टिप्पण ३३ में निर्देशित अन्य ग्रन्थ से तुलना करने के पश्चात् ही श्लोक ७२ बाँदिया गया है। जितने भी मूल आधार मुझे प्राप्त थे, उनमें चौथा पद 'नन्वेति' दिया है। फिर भी 'नन्वैति' पद ही शुद्ध हो सकता है।

सिद्धराज से हेमचन्द्र के प्रथम मिलन का उपर्युक्त वर्णन **कुमारपाल चरित्र** में भी मिलता है। परन्तु जो श्लोक हेमचन्द्र द्वारा रचा कहा जाता है, वह [पृ. ३६. पंक्ति ९-११] इस प्रकार दिया है :—

सिद्धराज राज [गज] राज उच्चकैः
कारय प्रसरमेतमग्रतः ।
संत्रसन्तु हर्ती [रितो] मतंगजास्
त् : [तैः] किमद्य भवतैव भूधृता ॥

भिन्न पाठ यह प्रमाणित करता है कि जिनमण्डन का आधार-ग्रन्थ दूसरा ही है।

२५. **प्रबन्धचिन्तामणि** पृ. १४४।

२६. प्रथम मिलन के वर्णन के बाद ही **कुमारपाल चरित्र** में यह कथा भी दी गयी है :—१. सभी मतों के सिद्धान्त अहिंसा के पोषक हैं ऐसा हेमचन्द्र जाहिर करते हैं, पृ. ३६—१८; २. हेमचन्द्र पृ. ३८—३९ में उस सुपात्र पुरुष के गुणों का वर्णन करते हैं जो पवित्र उपहारों के योग्य है; ३. पृ. ३९—४० में हेमचन्द्र राजा को सिद्धपुर में महादेव और जिन अर्थात् तीर्थंकर का अन्तर समझाते हैं; और ४. जयसिंह की कतिपय धार्मिक स्थापनाओं पर प्रकाश डालते हैं।

इन कथानकों के अन्य स्रोतों के तथ्य एवम् उनके होने के समय के सम्बन्ध में देखिये पृ. २२ आदि।

२७. कावेल सम्पादित कोलब्रुक: **मिसलेनियस एसेज** भाग २, पृ २७५ में भी यह कहा गया है कि यशोवर्मन कदाचित् वि. सं. ११९० में ही राज्यासीन हुआ था। **कीर्तिकौमुदी** २-३२ का विरोधी यह वर्णन कि मालवाधिपति नरवर्मन को जयसिंह ने हराया था, यशोवर्मन का पूर्वाधिकारी था, बिना विचारे ही त्याग दिया जा सकता है। क्योंकि यशोवर्मन का **द्वयाश्रयकाव्य** में स्पष्ट ही उल्लेख है और हम निश्चय ही विश्वास कर सकते हैं कि हेमचन्द्र को अपने राजा से पराजित राजा का नाम अच्छी तरह ज्ञात था।

२८. **द्वयाश्रयकाव्य** (इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ४ पृ २६६ आदि) से फारबस के उद्धरणों के अनुसार मालवा से लौट कर जयसिंह ने नीचे लिखे कार्य किये थे :—१. वह कुछ काल तक सिद्धपुर-श्रीस्थल में रहा था और तब वहां के रुद्रमाल मन्दिर, अथवा कहना चाहिए कि रुद्रमहालय मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और महावीर स्वामी का एक नया मन्दिर बनवाया था; २. सोमनाथपट्टन और गिरनार की तीर्थयात्रा पर वह गया था; ३. अनहिलवाड़ लौट कर उसने सहस्रलिंग सागर बनवाया और अनेक उद्यानों का निर्माण कराया था। अन्य अनेक स्थलों पर जिनकी हम परीक्षा कर सके हैं, हेमचन्द्र घटनाएँ उनके काल-क्रम से ही देता है, इसलिए यहाँ भी काल-क्रम के लिए हेमचन्द्र पर भरोसा किया जा सकता है। यदि हम ऐसा करते हैं तो यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि जयसिंह ने मालवा से लौटने के

पश्चात् बहुत वर्षों तक राज किया होगा और यह घटना वि. सं. ११९४ के पश्चात् तो नहीं ही हुई होगी।

२९. **प्रबन्धचिन्तामणि** पृ. १६१–१७१।

३०. यह श्लोक **क्लाट** [Klatt] ने **इण्डियन एण्टीक्वेरी** भाग **११** पृ. २५४ टिप्पण ५४ में उद्धृत किया है। **प्रभावकचरित्र** में हेमचन्द्र की **चर्चा** के समय उपस्थिति का सीधा वर्णन नहीं है। परन्तु उसमें इसका संकेत तो एक श्लोक, जिसकी रचना श्वेताम्बरों की विजय के उपलक्ष्य में हेमचन्द्र द्वारा किया जाना कहा जाता है, दे कर कर दिया है। हम २१, २५३–२५४ में पढ़ते हैं :—

> श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधान [ने] शब्दानुशासने।
> सूत्राधारः प्रभुः श्रीमान् हेमचन्द्रप्रभुर्जगौ ॥ २५३ ॥
> तथा हि।
> यदि नाम कुमुदचन्द्र [न्द्रं] नाजेष्यद् देवसूरिर्हिमरुचिः।
> कटिपरिधानमधास्यत कतमः श्वेताम्बरो जगति ॥ २५४ ॥

ऐसा लगता है कि यह श्लोक विकल्प सूचक (Conditional) प्रयोग के उदाहरण स्वरूप लिखा गया है। परन्तु कालहार्न ने मुझे सूचित किया है कि व्याकरण की टीका में यह नहीं मिलता है।

३१. **प्रभावकचरित्र** १२, ७४–११५ :—

> अन्यदावन्तिकोशीयपुस्तकेषु नियुक्त [क्त] कैः।
> दर्श्यमानेषु भूपेनश्चै [नात्रै] क्षि लक्षणपुस्तकम् ॥ ७४ ॥
> किमेतदिति पप्रच्छ स्वामी ते व्यजिज्ञापन्।
> भोजव्याकरणं ह्येत [च्] शब्दशास्त्रप्रवर्तने ॥ ७५ ॥
> असो [सौ] हि मालवाधीशो विद्वच्चक्रशिरोमणिः।
> शब्दालंकारदैवज्ञतार्कशास्त्राणि निर्ममे ॥ ७६ ॥
> चिकित्साराजसिद्धान्तरम [स] वास्तू [त] दयानि च।
> अ [अं] कशाकुनिकाध्यात्मस्वप्नसामुद्रिकाण्यपि ॥ ७७ ॥
> ग्रन्थान्निमित्तव्याख्यानप्रश्नचूडामणीनिह।
> विवृति [त्तिं] वायम [चार्थस] द्भावेर्थशास्त्रमेघमालयोः ॥७८॥

भूपालोप्यवदत् किं नारम्मत्कोषे शास्त्रपद्धतिः ।
विद्वान् कोपि कथं नास्ति देशे विश्वेपि [!] गूर्जरे ॥ ८० [७६] ॥
सर्वे सम्भूय विद्वांसो हेमचन्द्रं व्यलोकयन् ।
महाभक्त्या राज्ञासावभ्यर्थ्य प्राथि [तस्ततः] ॥ ८१ [८०] ॥
शब्दव्युत्पत्तिकृच्छास्त्रं निर्मायास्मन्मनोरथम् ।
पूरयस्व महर्षे त्वं विना त्वामत्र कः प्रभुः ॥ ८२ [८१] ॥
संक्षिप्तश्च प्रवृत्तोयं म [स] मयोस्मिन् कलापकः ।
लक्षण [णो] तत्र निष्पत्तिः शब्दाना [नां] नास्ति तादृशी ॥ ८३[८२]॥
पाणिनी [नि] र्लक्षणं वेदस्यांगमित्यब्रवन् द्विजः ।
अवलेपादसूयन्ति कोऽर्थस्तैरुन्मनायितैः ॥ ८४ ॥

(श्रीमोतीचन्द गिरधर कापड़िया द्वारा अपनी अनूदित पुस्तक 'हेमचन्द्राचार्य चरित्र' में की गई संपूर्ति ।)

य [:] शो मम तव ख्यातिः पुण्यं च मुनिनायक [:] ।
विश्वलोकोपकाराय कुरु व्याकरणं नवम् ॥ ८५ [८४] ॥
इत्याकर्ण्याभ्यधात्सूरिर्हेमचन्द्रः सुधि (धी) निधिः ।
[का:]कार्येषु नः किलोक्तिः वा[वः]स्मारणाये [यै]व केवलम्॥८६[८५]॥
परं व्याकरणान्यष्टौ वर्तन्ते पुस्तकानि च ।
तेषां श्रीभारतीदेवीकोश एवास्तितता ध्रुवम् ॥ ८७ [८६] ॥
आनाययतु काश्मीरदेशात्तानि स्वमानुषिः [षैः] ।
महाराजो यथा सम्यक् शब्दशास्त्रं प्रतन्यते ॥ ८८ [८७] ॥
इति तस्योक्तमाकर्ण्य ततक्ष [क्ष] णादेव भूपतिः ।
प्रधानपुरुषान् प्रैषीद् वाग्देवीदेशमध्यतः ॥ ८९ [८८] ॥
प्रवराख्यपुरे तत्र प्राप्तस्ते देवतां गिरम् ।
व [च] न्दनादिभिर [भ्य] र्च्य तुष्टुवुः पावनस्तवैः ॥ ९० [८९] ॥
समादिक्षभूस्तु [क्षत तु तैस्तु] ष्टा निजाधिष्टा [ष्ठा] यकान् गिरा ।
मम प्रसादचित्तः श्रीहेमचन्द्रः सिटाम्बरः [श्वेताम्बरः] ॥९१[९०]॥
ततो मूर्त्यन्तरस्येव मदीयस्यास्य हेतवे ।
सतर्प्य[संतर्प्य]प्रेष्यता[तां]प्रेष्यवर्ग [र्गं]पुस्तकसंचयं[यः]॥९२[९१]॥

ततः सत्कृत्य तान् सम्यग् भारतीसचिवालंमन् [बाः समम] ।
पुस्तकान्यर्पयामासुः प्रै[प्रे]पुश्चोत्मा [सा]हपडि[ण्डि]तम्॥६३[६२]॥
अचिरान्नगरं स्वीयं प्रापुः दे [दे] वीप्रमादिताः [सादतः] ।
हर्षप्रकर्षसम्पन्नपुलकांकुरपूरिता ॥ ६४ [६३] ॥
सर्वं [वें] विज्ञापयामासुर्भूपालाय गिरोदिता [तम्] ।
निष्ठो [दृष्ट्वं] प्रभो हेमचन्द्रे [परि] तोषमहादरम् ॥ ६५ ॥
इत्याकर्ण्य चमत्कारं धारयन् वसुधाधिपः ।
उवाच धन्यो मद्देशो [ह] [मान्यो] यत्रेदृशः कृती ॥ ६६ [६५] ॥
श्रीहेमसूरयोप्यत्रालोक्य व्याकरणव्रजम् ।
शास्त्रं चत्क [चक्रु] र नवं श्रीमत्सिद्धाख्यमद्भुतम् ॥ ६७ [६६] ॥
द्वात्रिंशत्पादसंपूर्णमष्टाध्यायग्रुणादिम [म] न ।
धातुपारायणा [णो] पेतं रगल्लि [मह-लि] गानुशासनम् ॥६८[६७]॥
सूत्रसद्वृत्तिमन्नाममालानेकार्थसुदश [सुन्दरम्] ।
मौलि लक्षणशास्त्रेषु विश्वविद्वद्भिरादृतः [तम्] ॥ ६६ [६८] ॥
त्रिभिर्विशेषकम् ॥
आदौ विस्तीर्णशास्त्राणि न हि पाठ्यानि सर्वतः ।
आयुषा सकलेनापि पुमर्थयवलन्नानि तत् [?] ॥ १००[६६] ॥
संकीर्णानि व [च] दुर्बोधदोषस्थानानि कानिचित् ।
एतत्प्रमाणितं तस्माद्धभक्ति [विद्वद्भिः] रधुनातनैः । १०१[१००] ॥
श्रीमूलराजप्रभृतिराजपूर्वज [भू] सृताम् ।
वर्णवर्णन [नं] सम्बन्ध पादान्ते श्लोक[एक]कं[कः] ॥१०२[१०१]॥
तच्चतुष्कं च सर्वान्ते श्लाकौ [कै] स्त्रिंशद्भिरद्भुता ।
पञ्चाधिकै [कैः] प्रशस्तिश्च विहिता विहितैस्त [तः] १०३ [१०२] ॥
युग्मम् ॥
राजः पुर [जगुरु] पुरोगैश्च विद्वाद्भर्वाचितं ततः ।
चक्रे वर्षत्रयर्षेव [त्रयेणैव] राज्ञा पुस्तकलेखनो [नम्]॥ १०४ [१०३]
राजादेशान्नियुक्तैश्च सर्वस्थानेभ्य त्रच [यतेः] ।
दावाहूयसच्चके [समाहूयत पत्तने] लेखकानां शतत्रयम् ॥ १०५ ॥
पुस्तकाः समलेख्यन्त सर्वदर्शनिनां ततः ।

प्रत्येकमेवादीयन्ताध्येतृणामुद्यमस्पृशाम् ।। १०६ [१०५] ।।
विशेषकम् ।।
अङ्ग–बंग–कलिंगेषु लाट–कर्णाट–कुंकणे ।
महाराष्ट्रसुराष्ट्रासु [स] वच्छे [त्से] कच्छे च मालवे ।।१०० [१०६]।।
सिन्धुसौवीरनेपाले पारासीकमुरुण्डयोः ।
गंगापारे हरिद्वारे कासि–वे [चे] दि–गयासु च ।। १०८[१००] ।।
कु [रु] कक्षेत्रे कान्यकुब्जे गौड़श्रीकामरूपयोः ।
सपादलक्षवज्जालन्धरे च खसमध्यतः ।। १०६ [१०८] ।।
मि [सि] हलेथ महाबोधे चौडे मालवकौशिके ।
दू [इ] त्यादिविश्वदेशेषु शास्त्रं व्या [व्य] स्तार्यत स्फुटम् ।।११० ।।
चतुर्भिः कलापकम् ।।
अन्येमोय [अन्येषां च ?] निबन्धानां पुस्तकानां च विंशति [:] ।
प्राहीयत नृपेन्द्रेण कस्मी [श्मी] रेषु महादरात् ।। १११ [११०] ।।
एतत्तत्र गत [तं] शास्त्रं स्वीयकोशे निवेशितम् ।
सर्वो निर्वाहयेत्स्येनादृतं देव्यास्तु का कथा ।। ११२ [१११] ।।
काकलो नाम कायस्थकुलकल्याणशेखरः ।
अष्टव्याकरण्य् [णाध्ये] ता प्रज्ञाविजितभोगिराट् ।। ११३ [११२] ।।
प्रभुस्तं दृष्टमात्रेण ज्ञाततत्त्वार्थमस्य च ।
शास्त्रस्य ज्ञापकं [द] [त्त्वा] शु विदधेध्यापक [कं] तथा ।। ११४ ।।
प्रतिमासं स च ज्ञानपञ्चम्यां पृच्छनां दधौ ।
राजा च तत्र निर्व्यूढान् [न] कंकणैः समभूषयत् ।। ११५ [११४] ।।
निष्पन्ना अत्र शास्त्रे च दुकूलस्वर्णभूषणैः ।
सुशासनातपत्रैश्च ते भूपालेन योजितोः [ता] ।। ११५ [११६] ।।

श्लोक ७६ के पश्चात् प्रति में श्लोक ७८ का कुछ अंश है और ७८ के अंक के पश्चात् ७९ का अंक। मुझे ऐसा नहीं लगता कि कुछ छूट गया है। श्लोक ८४ का उत्तरार्द्ध छूट गया है (श्री मो० गि० कापड़िया ने वह पाठ पूर्ति कर दी है।) क्योंकि प्रति में यह इतना छिन्न-भिन्न है कि उसका कोई अर्थ ही नहीं निकल पाता है। श्लोक ९३ की यह बात कि सरस्वती के सेवकों ने

उत्साह पण्डित को भेज, इसकी व्याख्या इस अर्थ में की जाना चाहिए कि यह व्यक्ति जयसिंह के भेजे हुए व्यक्तियों,-राजपुरुषों में से एक था और वही घर लौटाया गया था। क्योंकि **प्रभावकचरित्र** २१, १३५ के अनुसार उत्साह वि. सं. ११८१ में देवसूरि और कुमुदचन्द्र के शास्त्रार्थ के समय पार्श्वदेश्वर के रूप में पहले ही उपस्थित था। इसलिए वह इस समय अनहिलवाड़ नहीं आ सकता था क्योंकि यह घटना बहुत बाद की है।

३२. **प्रबन्धचिन्तामणि** पृ० १४४-१४६; और १४७-१४८; वर्णन के अन्त में मेरुतुंग ने प्रशस्ति का पहला श्लोक दिया है। **कुमारपालचरित्र** पृ० ४१-४२ भी तुलनीय है।

३३. उन ३५ श्लोकों के उद्धार के लिए, जिनमें पहले सात चौलुक्य राजाओं की कीर्ति गाथा कही गई है, मैंने ए० व्यैबर की केटेलाग डेर बर्लिनर संस्कृत एण्ड प्राकृत हैण्ड शिफ्टन (Katalog der Berliner Sanskrit-und Prakrit-Hand Schriften) भाग २ प्रथम वर्ग पृ० २११, २२०-२१, २३०-३१, २३५, २४२-४३ के सूचना के अतिरिक्त डा० पिटरसन के तीसरे प्रतिवेदन और पिशेल के प्राकृत ग्रामेटिक भाग १ पृ० ५ भाग २ पृ० ५७, ९८-९९, १२९ एवम् पहले २८ श्लोकों के लिए बबई की हस्त-प्रति से समाकलित प्रति का जो कि मेरे मित्र कीलहार्न मेरे पास छोड़ गये थे, उपयोग किया है। पाठ-भेद जो अधिकांश बहुत ही मूल्यवान है, 'के' अक्षरांकित कर दिखाये गये हैं।

पाद १ (आर्या वृत्तः)।

हरिरिव बलिबन्धकरस्त्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिरिव।
कमलाश्रयश्च विधिरिव जयति श्रीमूलराजनृपः॥ १॥

पाद २ (आर्या)।

पूर्वमवदारागोपीहरणस्मरणादिव ज्वलितमन्युः।
श्रीमूलराजपुरुषोत्तमोवधीद् दुर्मदाभीरान्॥ २॥

पाद ३ (अनुष्टुभ्)।

चक्रे श्रीमूलराजेन नवः कोपि यशोर्णवः।
परकीर्तिस्रवन्तीनां न प्रवेशमदत्त यः॥ ३॥

पाद ४ (वसन्ततिलका)।

सोत्कण्ठमंगलगनैः कचकर्षणैश्च
वक्त्रांगचुम्बननखक्षतकर्मभिश्च ।
श्रीमूलराजहतभूपतिभिर्विलेसुः
संख्ये च स्वेपि च शिवाश्च सुरस्त्रियश्च ॥ ४ ॥

पाद ५ (अनुष्टुभ्)।

प्रावृड् जातेति हे भूपा मा स्म त्यजत काननम् ।
हरिः शेतेत्र नन्वेष मूलराजमहापतिः ॥ ५ ॥

पाद ६ (अनुष्टुभ्)।

मूलार्कः श्रूयते शास्त्रे सर्वकल्याणकारणम्[१] ।
अधूना मूलराजस्तु चित्रं लोकेषु गीयते ॥ ६ ॥

पाद ७ (अनुष्टुभ्)।

मूलराजासिधारायां[२] निमग्ने ये महीभुजाः ।
उन्मज्जन्तो [३]विलोक्यन्ते स्वर्गंगाजलेषु ते ॥ ७ ॥

पाद ८ (उपजाति)।

श्रीमूलराजक्षितिपस्यबाहु-
र्बिभर्ति पूर्वाचलशृंगशोभाम् ।
संकोचयन् वैरिमुखाम्बुजानि
यस्मिन्नयं स्फूर्जति चन्द्रहासः[४] ॥ ८ ॥

पाद ९ (अनुष्टुभ्)।

अमरब्धा अपि चिरं दुस्सहा वैरिभूभृतां ।
चण्डाश्चामुण्डराजस्य प्रतापशिखिनः कणाः ॥ ९ ॥

पाद १० (अनुष्टुभ्)।

श्रीमद्वल्लभराजस्य[५] प्रतापः कोपि दुस्सहः ।
प्रसरन् वैरिभूपेषु दीर्घनिद्रामकल्पयत् ॥ १० ॥

पाद ११ (अनुष्टुभ्)।

श्रीदुर्लभेशचमयोः पादास्तुष्टुविरे[१] न कैः ।
लुलद्भिर्मेदिनीपालैर्बालखिल्यैरिवाग्रतः ॥ ११ ॥

पाद १२ (अनुष्टुभ्)।

प्रतापतपनः कोपि [1]मौलराजेर्नवोभवत्।
रिपुस्त्रीमुखपद्मानां न सेहे यः किल श्रियम् ॥ १२ ॥

पाद १३ (अनुष्टुभ्)।

कुर्वन् कुन्तलशैथिल्यं मध्यदेशं निपीडयन्।
अंगेषु विलसन् भूमेर्भर्ताभूद् भीमभूपतिः ॥ १३ ॥

पाद १४ (अनुष्टुभ्)।

श्रीभीमपृतनोत्खातरजोभिर्वैरिभूभुजाम्[2]।
अहो चित्रमवर्धन्त ललाटे जलबिन्दवः ॥ १४ ॥

पाद १५ (अनुष्टुभ्)।

कर्णं च सिन्धुराजं च निर्जित्य युधि दुर्जयम्।
श्रीभीमेनाधुना चक्रे महाभारतमन्यथा ॥ १५ ॥

पाद १६ (उपजाति)।

दुर्योधनोर्वीपतिजैत्रबाहुर्गृहीतचेदीशकरोवतीर्णः।
अनुग्रहीतुम् पुनरिन्दुवंशं श्रीभीमदेवः किल भीम एव ॥ १६ ॥

पाद १७ (आर्या)।

अगणितपञ्चेषुबलः पुरुषोत्तमचित्तविस्मयं जनयन्।
रामोल्लासनमूर्तिः श्रीकर्णः कर्ण इव जयति ॥ १७ ॥

पाद १८ (अनुष्टुभ्)।

अकृत्वासननिर्बन्धमभित्त्वा पावनीं गतिम्।
सिद्धराजः परपुरप्रवेशवशितां [3]ययौ ॥ १८ ॥

पाद १९ (अनुष्टुभ्)।

मात्रयाप्यधिकं 'कंचिन्न सहन्ते जिगीषवः'।
इतीव त्वं धरानाथ धारानाथमपाकृथाः ॥ १९ ॥

पाद २० (शार्दूलविक्रीडित)।

क्षुण्णाः क्षोणिभृतामनेककटका भग्नाथ धारा ततः
कुण्ठः सिद्धपतेः कृपाण इति रे मा मंसत क्षत्रियाः।

आरूढप्रबलप्रतापदहनः संग्रामप्रारश्चिरात्
पीत्वा मालवयोषिदश्रुसलिलं हन्तायथेविष्यते ।। २० ।।

पाद २१ (उपजाति) ।

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य
त्वया न किं विप्रकृतं [1]नरेन्द्र ।
यशांस्यहार्षीः प्रथमं समन्तात्
क्षणादभाङ्क्षीरथ राजधानीम् ।। २१ ।।

पाद २२ (शिखरिणी) ।

मृडित्वा दोः कण्डूं समरभुवि वैरिक्षितिभुजां
भुजादण्डे दद्रुः कति न नवखण्डी वसुमतीम् ।
यदेवं साम्राज्ये विजयिनि वितृष्णेव मनसा
यशो योगीशानां पिबसि नृप तत्कस्य सदृशम् ।। २२ ।।

पाद २३ (शिखरिणी) ।

जयस्तम्भान् सीमान्यधिजलधिवेलं निहितवान्
वितानैर्ब्रह्माण्डं शुचिगुणगरिष्ठैः पिहितवान् ।
यशस्तेजोरूपैरलिपत जगन्त्यर्धघुसृणैः
कृतो यात्रानन्दो विरमति न किं सिद्धनृपतिः ।। २३ ।।

पाद २४ देखिए ऊपर टिप्पण २४ ।

पाद २५ (अनुष्टुभ्) ।

लब्धलक्षा विपक्षेषु विलक्षास्त्वयि मार्गणाः ।
तथापि तव सिद्धेन्द्र वातेत्युत्कंधरं यशः ।। २५ ।।

पाद २६ (वसन्ततिलका) ।

उत्साहसाहसवता भवता नरेन्द्र
धाराव्रतं किमपि तद्विषमं सिषेवे ।

१. सर्व क हस्तप्रति
२. 'के' के अनुसार
३. मूलतः प्रथम पाद के पश्चात् कदाचित् अन्तिम पाद यह रहा हो ।
४. एलफिंस्टन कालेज को हस्तप्रति 'के' के अनुसार ।

यस्मात्फलं न खलु मालवमात्रमेव
श्रीपर्वतोपि तव कन्दुककेलिपात्रम् ।। २६ ।।

पाद २७ (मालिनी) ।

अयमवनिपतीन्दो मालवेन्द्रावरोध-
स्तनकलशपवित्रं पत्रवल्लीं लुनातु ।
कथमखिलमहीभृन्मौलिमाणिक्यभेदे
घटयति पटिमानं भग्नधारस्तवासिः ।। २७ ।।

पाद २८ (मालिनी) ।

क्षितिधर भवदीयः क्षीरधाराधवलै-
रिपुविजययशोभिः श्वेत एवासिदण्डः ।
किमुत कवलितैस्तैः कज्जलैर्मालवीनां
परिणतमहिमानं कालिमानं तनोति ।। २८ ।।

पाद २९ (शार्दूलविक्रीडित)

यद्दोर्मण्डलकुण्डलीकृतधनुर्दण्डेन सिद्धाधिप-
क्रीतं वैरिकुलात्त्वया किल दलत्कुन्दावदातं यशः ।
मान्त्वा त्रीणि जगन्ति खेदिववशं तन्मालवीनां व्यधाद्
आपाण्डौ स्तनमण्डले च धवले गण्डस्थलेवस्थितिम् ।।२६।।

पाद ३० (उपेन्द्रवज्रा) ।

द्विषत्पुरक्षोदविनोदहेतोर्भवादवामस्य भवद्भुजस्य ।
अयं विशेषो भुवनैकवीर परं न यत् काममपाकरोति ।। ३० ।।

पाद ३१ (शार्दूलविक्रीडित) ।

ऊर्ध्वं स्वर्गनिकेतनादपि तले पातालमूलादपि
त्वत्कीर्तिर्भ्रमति क्षितीश्वरमणे पारे पयोधेरपि ।
तेनास्याः प्रमदास्वभावसुलभैरुच्चावचैश्चापलै
स्ते वाचंयमवृत्तयोपि मुनयो मौनव्रतं त्याजिताः ।। ३१ ।।

पाद ३२ (वसन्ततिलका) ।

आसीद्विशांपतिरमुद्रचतुःसमुद्र-
मुद्रांकितक्षितिभरक्षमबाहुदण्डः ।

श्रीमूलराज इति दुर्धरवैरिकुम्भि-
कण्ठीरवः शुचिचुलुक्यकुलावतंसः ॥ ३२ ॥
तस्यान्वये समजनि प्रबलप्रताप-
तिग्मद्युतिः क्षितिपतिर्जयसिंहदेवः ।
येन स्ववंशसवितर्यपरं सुधांशौ
श्रीसिद्धराज इति नाम निजं व्यलेखि ॥ ३३ ॥
सम्यग् निषेव्य चतुरश्चतुरोप्युपायान्
जित्वोपभुज्य च भुवं चतुरब्धिकांचिम् ।
विद्याचतुष्टयविनीतमतिर्जितात्मा
काष्ठामवाप पुरुषार्थचतुष्टये यः ॥ ३४ ॥
तेनातिविस्तृतदुरागमविप्रकीर्ण-
शब्दानुशासनसमूहकदर्थितेन ।
अभ्यर्थितो निरवमं विधिवद् व्यधत्त
शब्दानुशासनमिदं मुनिहेमचन्द्रः ॥ ३५ ॥

१. राजा श्री मूलराज जो कि बलि को बांधने वाले (बलिष्ठ) हरि के समान त्रिशक्तिशाली हैं, पिनाकधारी शिव के समान और कमलाश्रयी ब्रह्मा के समान जयवंत रहो ।

[टिप्पण—राजा की तीन सत्ताएं उसकी महत्ता, शक्ति और दैवी त्रिशक्ति की भक्ति प्रकट होती है । त्रिशक्ति देवी के विषय में देखो ऑफ़ेस्ट (Aufrecht) ऑक्सफर्ड लेट. प्र. ५९ । तीसरी उपमा जो श्लोक में दी गई है, मूलराज के भूमि-दानपत्र में भी पाई जाती है, देखो इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग ४. पृ. १९१ ।]

२. गोपियों के हरण की स्मृति से कोप दग्ध पुरुषोत्तम के अवतार श्री मूलराज ने अभिमानी आभीरों को मार दिया था ।

[टिप्पण—जैसा कि द्व्याश्रयकाव्य में कहा गया है, (इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग ४ पृ. ७४—७७] मूलराज ने सोरठ के आभीर राजा ग्राहरिपु को, जो कि नरकासुर का अवतार माना जाता था, मार दिया था । नरकासुर कितनी ही गोपियों को हरण कर ले गया था, जिन्हें श्रीकृष्ण ने छुड़ा कर विवाह लिया

था, देखो—एच. एच. विल्सन का विष्णुपुराण भाग ५ पृ. ८७-९२, १०४ एफ. ई. हाल का संस्करण ।]

३. श्री मूलराज ने ऐसे एक यशार्णव का निर्माण कर लिया था कि जिसमें वैरियों की कीर्ति की नदियों का प्रवेश निषिद्ध है ।

४. मूलराज द्वारा युद्धभूमि में मारे गये राजाओं के शवों को खाते हुए शृगालों ने जैसे खूब दावत मनाई, वैसे ही स्वर्ग में अप्सराओं ने भी गाढालिङ्गन कचकर्षण, कमलमुख चुम्बन, नखक्षत आदि से आनन्द मनाया है ।

[टिप्पण—श्लोक के अन्तिम शब्द अप्सराओं की उस आनन्द दशा का वर्णन करते हैं, जिन्हें कामसूत्र में बाह्यसम्भोग कहा गया है ।]

५. हे राजाओं, वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है यह सोच कर ही वन का त्याग मत करो । क्या वन में महाराज मूलराज जैसे सिंह नहीं सोते रहते हैं ?

[टिप्पण—मूलराज से पराजित राजा गण जो जंगल में पलायन कर गये थे, यदि सोचते हों कि वर्षा ऋतु में सैनिक अभियान नहीं हो सकता, इसलिए अभियान का भय समाप्त हो गया है, तो वे ऐसा नहीं सोचें, क्योंकि मूलराज को सिंह समान शक्ति जहां भी वे होंगे, ढूंढ निकालने में समर्थ है ।]

६ शास्त्रों में कहा गया है कि मूल नक्षत्र का सूर्य महा अशुभ होता है । परन्तु मूलराज की तो तीनों लोक में कीर्ति गाई जा रही है ।

[टिप्पण—सूर्य का मूल नक्षत्र के साथ संयोग विनाश लाता है । उसी प्रकार इस चन्द्र का घर जिसका स्वामी निऋति है, आपत्ति ही लाता है ।]

७. जो राजा लोग मूलराज की तलवार की धार में डूब गये थे, आकाश गंगा के जल में फिर से उतरा रहे हैं ।

८. मूलराज के बाहु, जिनमें यह तलवार चमक रही है, चन्द्र ज्योत्स्ना से दीप्तमान पूर्वाचल के शिखर के समान शोभित हैं और वैरियों के मुखों को वे वैसे ही विकृत कर देते हैं जैसे कि कमल विकृत हो जाते हैं ।

९. चामुण्ड राज की शक्ति रूपी अग्नि के स्फुल्लिग का, यद्यपि अधिक प्रयोग नहीं हुआ, तो भी वैरी-राजाओं को वह असह्य रहा था ।

[टिप्पण—मेरे विचार से इसका अभिप्राय यह है कि चामुण्डराय को मरे हुए यद्यपि चिरकाल हो गया है, परंतु उसकी शक्ति की प्रचण्डता आज भी वैरियों को दुःख दे रही है।]

१०. राजा श्रीमद् वल्लभ की शक्ति की अग्नि असह्य थी। दुश्मनों पर जब आक्रमण किया जाता तो, वे चिरनिद्रा में सो जाते थे।

११. किसने बालखिल्यों की भाँति दुर्लभराज के चरणों की कीर्ति का गान नहीं किया ?

[टिप्पण—यहाँ बालखिल्यों से राजाओं की तुलना यह बताने के लिए की गयी है कि वे दुर्लभराज के सामने वामन जैसे हैं। छठे गण को धातु के समान 'लुल्' धातु का यहाँ प्रयोग पाणिनी के नियमानुसार नहीं है। हेमचन्द्र के धातु पारायण में भी यह धातु छठे गण की धातुओं में नहीं मिलती है। लुलद्भिः प्रयोग या तो प्रतिलिपिकार की मूल से 'लुठद्भिः' के स्थान में हुआ है अथवा हेमचन्द्र ने प्राकृत प्रयोग का उपयोग कर स्वयम् अपने को दोषी बनाया है।]

१२. मूलराज के वंशजों का प्रताप-सूर्य एक विचित्र प्रकार का था, क्योंकि उसे रिपुओं मुख पद्मों की सुन्दरता सहन नहीं होती।

[टिप्पण—मूलराज के वशज से यहाँ कदाचित् भीम प्रथम हो अभिप्रेत है।]

१३. राजा भीम पृथ्वी का पति हो गया। कुन्तल देश को जीत कर उसने मानों पृथ्वी के केशों को ढीला कर दिया। मध्य देश को जीत कर मानों पृथ्वी की कटि दबा दी और अंग देश क्या जीता मानों उसके अंग के साथ ही रमण किया।

[टिप्पण—भीम की इन विजयों का वर्णन द्वयाश्रयकाव्य में नहीं है। इसलिए अलंकारों के प्रयोग के लिए कवि ने इनकी कल्पना की हो ऐसा प्रतीत होता है।]

१४. श्री भीम की सेना से जो धूलि कण उठे, उन्होंने उसके रिपुओं के भाल पर स्वेद बिन्दुओं की झड़ी लगा दी, अहो! यह कैसा आश्चर्य है ?

१५. श्री भीम ने महाभारत फिर से लिखा, क्योंकि उसने दुर्विजयी कर्ण और सिंधुराज दोनों को ही जीत लिया है।

[टिप्पण—द्वयाश्रयकाव्य के अनुसार भीम प्रथम ने चेदी या दाहल के राजा कर्ण एवम् सिंध के राजा हम्मुक को हराया था। देखो इण्डियन एण्टीक्वेरी

भाग ४ पृ० ११४, २३२। महाभारत के भीम ने भी कर्ण को बहुधा हराया था, देखो–महाभारत पर्व ७ श्लोक १३१, १३३, १३९। फिर भी कर्ण अर्जुन द्वारा मारा गया था, देखो महाभारत ८-९१। सिंधु देश का राजा जयद्रथ भी अर्जुन द्वारा ही मारा गया था, देखो महाभारत ७, १४६।]

१६. भीम जिसकी भुजाओं ने दुर्योधनोर्वीपति राजाओं को जय किया, और जिसने चेदीराज से कर लिया, निःसंदेह वही दुर्योधन और चेदीराज जरासंध विजेता है और उसने चन्द्रवंश पर कृपा करने के लिए ही फिर से यह अवतार लिया है।

[टिप्पण—अनहिलवाड़ के सोलंकी या चौलुक्य चन्द्रवंशी थे। देखो नीचे श्लोक ३३ और द्व्याश्रयकाव्य का अन्तिम भाग। पाण्डव भी चन्द्रवंशी ही थे।]

१७. जिसने पंचशर की शक्ति की परवाह नहीं की, जिसने अच्छे मनुष्यों के मन में आश्चर्य भर दिया है, जिसका रूप दैदीप्यमान है और जो इसलिए महाभारत के उस कर्ण के समान है जिसने पांचवाण वाले की परवाह नहीं की थी, जिसने पुरुषोत्तम के मन में भी आश्चर्य जगा दिया था और जिसके कुण्डल चमक रहे थे।

टिप्पण—रत्नमाला (रा० ए० सो० बम्बई शाखा पत्रिका भाग ९ पृ० ३७) में लिखा है, उसका अर्थात् भीम का पुत्र कर्ण रंग में गेहूँवर्णी था। भारत के कर्ण के रूप की सुंदरता का वर्णन महाभारत ८–९१, ६०–६१ में है। कर्ण के साथ युद्ध करते समय अर्जुन के रथ के सारथी पुरुषोत्तम या कृष्ण थे। पांचबाण पाण्डु के पाँच पुत्र हैं। यह कथन कि राजा कर्ण कामदेव की शक्ति का उपहास किया करता था, अयोग्य चाटुकारिता है, क्योंकि रत्नमाला में हम पढ़ते हैं कि वह कामलुब्ध था।]

१८. [अ] शिविर में अधिक देर तक ठहरे बिना ही, और कूच की वायु समान गति को रोके बिना ही सिद्धराज ने रिपु के नगर में प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त कर ली थी।

[आ] यौगिक आसनों में कठिन परिश्रम किये बिना ही और प्राणायाम साधे बिना ही, सिद्धराज ने परकायप्रवेश की शक्ति प्राप्त कर ली थी।

[टिप्पण—इस श्लोक के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि विजय को लेकर सिद्धराज को भाग्यशाली विजेता कहा गया है, इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ४ पृ० २६६। दूसरा यह कि यौगिक क्रियाओं का अभ्यास किये बिना ही योग के लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के कारण उसे बधाई दी गयी है। परपुर-प्रवेश का ब्योरेवार वर्णन हेमचन्द्र के योगशास्त्र प्रस्ताव ५ श्लोक २६४-२७२ में है। 'अभित्वा पावनिं गतिं' का दूसरा अर्थ 'प्राणायामान अकृत्वा' है।

१९. विजयेच्छुकों को ऐसा कोई भी व्यक्ति बरदाश्त नहीं होता जिसका कि नाम उनसे एक स्वर को लंबाई मात्र से भी अच्छा हो। इसीलिए ओ धराधीश ! तूने धारा के राजा को ही भगा दिया है।

[टिप्पण—धारा का राजा यशोवर्मन था जिसे सिद्धराज ने बंदी बना लिया था।]

२०. हे योद्धाओं ! ऐसा मत सोचो कि सिद्धराज की तलवार अब भोथी हो गई है, क्योंकि उसने अनेक वैरी राजाओं की सेना को काट गिराया था और इसलिए धारा (नगरी और तलवार की धार दोनों) टूट गयी है। वाह ! वह तो और भी सुदृढ़ होने वाली है, क्योंकि शक्ति की प्रचण्ड अग्नि उसी में प्रज्वलित हुई है, क्योंकि उसने मालव स्त्रियों के अश्रुरूपी जल का चिरकाल तक पान कर धारा (नगरी और तलवार की धार दोनों ही) को जीत लिया है।

[टिप्पणी—इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में यह समर्थन किया गया है कि तलवार को फिर से सान पर चढ़ा कर तैयार किया गया था।]

२१. ओ नरपति ! तूने विक्रमादित्य की कीर्ति को भी कितनी हानि नहीं पहुँचा दी है ? पहले तो तूने उसकी प्रसिद्ध को लूटा है और दूसरे उसकी राजधानी को भी तूने क्षण मात्र में नष्ट कर दिया है।

[टिप्पणी—जयसिंह ने विक्रमादित्य के यश को भी मात कर दिया' क्योंकि वह विक्रमादित्य से भी अधिक दानी था। नीचे के श्लोक २५ से तुलना कीजिये।]

२२. कितनों ने इस नव खण्ड पृथ्वी को बलिष्ठ भुजाओं में, युद्धस्थली में विपक्षी राजाओं की शक्तियों को गुदगुदा कर भगा देने के पश्चात, कस रखा

वा ! तू राजाओं का राजा ! योगियों में नाथ की कीर्ति भोगता है, क्योंकि तेरा मन लोभ से वंचित है, हालांकि इतने बड़े साम्राज्य से तू समृद्धिवान है । बता तो यह किसके समान है ?

[टिप्पणी—जयसिंह की दार्शनिक अध्ययनशीलता से सम्बन्धित प्रबन्धों के कथानकों का समर्थन ही इस श्लोक में है ।]

२३. सीमाओं पर, सागर तटों पर, उसने विजय स्तम्भ खड़े किये हैं । उसने सारे ब्रह्माण्ड को वितान (चंदोवा) से ढक दिया जो कि उसके देदीप्यमान गुणों के कारण खूब चमक रहा है । अपनी कीर्तिरूपी सुगन्धित केसर से विश्वों को चर्चित कर दिया है । इसने यात्रानन्द भी बहुत मनाया है । फिर भी ओ सिद्धराज ! तू आराम क्यों नहीं करता ?

[टिप्पणी—यात्रा के सामान्यतया दो अर्थ होते हैं, परन्तु यहाँ इसका अर्थ तीर्थयात्रा ही है । क्योंकि जयसिंह की युद्ध सम्बन्धी यात्राओं का वर्णन पहले ही किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त लेखक राजा की धर्मनिष्ठा को महत्व देना चाहता है, जैसा कि पिछले श्लोक में किया गया है । कौन तीर्थयात्रा यहाँ अभिप्रेत है, इसके लिए देखो ऊपर पृ० २४ ।]

२४. देखो, पीछे पृष्ठ २१ ।

२५. दुश्मनों के साथ तो मार्गणाएं सफल हो जाती हैं, परन्तु, तेरे विषय में वे भुला जाती हैं । इसके बावजूद तेरे दानीपन की कीर्ति, ओ सिद्धराज ! उनकी गर्दन से बहुत ऊंची है ।

[टिप्पणी—मार्गणा से यहाँ 'भिक्षुक' और 'तीर' दोनों ही अर्थ लिये गये हैं ।]

२६. ओ जोश और अध्यवसाय-शिरोमणि राजा ! तूने एक भयंकर साहस पूरा कर लिया है, धारा को जीतने की प्रतिज्ञा करके, जिसके द्वारा न केवल मालवा ही तेरा पारितोषिक था अपितु श्रीपर्वत भी खिलौनारूप तुझे प्राप्त हो गया ।

[टिप्पणी—यहाँ प्रचलित 'असिधाराव्रत' के स्थान में जो 'धाराव्रत' शब्द का प्रयोग किया गया है वह शब्दालंकार के लिये है । श्रीपर्वत की विजय के सम्बन्ध में न तो द्वयाश्रयकाव्य में ही कुछ कहा गया है और न प्रबन्धों में ही । इस शब्द से नामविशेष अभिप्रेत हो ऐसा भी लगता है परन्तु यहाँ तो 'धन का पर्वत' अर्थ में ही इसका प्रयोग हुआ प्रतीत होता है ।]

२७. ओ राजाओं में चन्द्र समान ! तेरी यह तलवार उस मुखसौन्दर्य को नष्ट कर देओ कि मालव राजा की रानियों केसुडौल वक्षों द्वारा पावन किया जा चुका है। वह कैसे तीक्ष्णता रख सकता है जब कि सब राजाओं के मस्तकरूपी दुष्ट फोड़े को फोड़ने में वह धार (नगरी और तलवार का पाळ) भोथरी हो गई है।

२८. ऐ पृथ्वीपति ! क्या विजय-कीर्ति से श्वेत हुई तेरी दृढ़ तलवार शत्रुओं पर दुग्ध-धारावत् चमक रही है ? या वह मालवा की रमणियों के नेत्रों के काजल को चाट कर एकदम श्यामवर्ण हो गई है ?

२९. बाहु द्वारा धनुष को वलयाकार बनाकर ओ सिद्धराज, तू ऐसी कीर्ति जय करता है, जो कि चनेली के पुष्प की भाँति खूब श्वेत चमक रही है।

[टिप्पणी—इस श्लोक के अन्तिमांश की तुलना कीजिए नवसाहसांकचरित्र ११, १०० से जहाँ भी रमणियों के मुख के चिंता और विषाद से हुए पीलेपन को विजेता के यश से समानता बताई गई है। देखो पिशेल का हेम प्राकृत व्याकरण भाग २ पृ० ६७।]

३०. अमरों के तीन सुरक्षित नगरों को नष्ट कर प्रसन्नता फैलाने वाले भव के हाथ में और अपने रिपुओं के सुरक्षित तीन नगरों को नष्ट कर प्रसन्नता की वृद्धि करने वाले तेरे दाहिने हाथ में, इतना ही तो अन्तर है कि तेरा हाथ अद्भुत इच्छाओं को-परं कामं नापकरोति-भी पूरा करने में नहीं रुकता, जब कि उसने पर कामम् अपाकरोति-अर्थात् कामदेव को ही नष्ट कर दिया था।

[टिप्पणी—तुलना कीजिये—पिशेल का हेम प्राकृत व्याकरण भाग २ पृ ९९।]

३१. ऊपर स्वर्गों में, नीचे नरकों में और समुद्र के पार भी तेरी कीर्ति राजाओं के रत्न समान, फैली है। इसलिए स्त्रियों की प्रकृति के अनुरूप उसकी कितनी ही कमजोरियाँ, जिह्वा पर काबू रखनेवाले योगियों का भी मौन तोड़ने के लिए विवश कर देती हैं।

[टिप्पणी—तुलना कीजिये पिशेल के उसी ग्रन्थ पृ० १२९ से जहाँ मूल के ते नास्याः वाक्य के दो टुकड़े करके श्लोक के उत्तरार्द्ध के अर्थ तक वह नहीं पहुँच पाया है। व्येबर ने तेनाऽस्याः अर्थात् तेन अस्याः [अर्थात् कीर्तेः] पदच्छेद किया है।

३२. मनुष्यों में राजा श्री मूलराज, रिपुरूपी दुर्दमनीय गजों में सिंह समान, चौलुक्य वंश के भूषण के सुदृढ़ बाहु चारों असीम सागरों से परिवेष्टित इस पृथ्वी का भार वहन कर सकते थे।

[टिप्पणी—अथवा 'उसके दुर्धर्ष शत्रु' (उन) गजों के सिंह।]

३३. उसके ही वंश में राजा जयसिंहदेव, अत्यन्त प्रचण्ड प्रभावी सूर्य उत्पन्न हुआ जिसने चन्द्रमा में अपना अमर नाम स्ववंशसवितर्यपर-श्री सिद्धराज अंकित करा दिया।

[टिप्पणी—चौलुक्य चन्द्रवंशी हैं। देखो ऊपर श्लोक १६। चन्द्रमा के लांछनों का अपने मान्य राजाओं को प्रशस्ति रूप से कवियों द्वारा बहुधा वर्णन किया गया है।]

३४. उस चतुर ने नीति के चारों ही अस्त्रों का प्रयोग किया। उसने चार सागरों से परिवेष्टित पृथ्वी का विजय और भोग किया। चारों विज्ञानों के अध्ययन द्वारा उसने अपनी बुद्धि का पोषण किया और स्वयम् पर अधिकार पाया। इस प्रकार उसने चारों प्रकार के मानवी प्रयत्नों द्वारा अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया।

[टिप्पणी—विज्ञान की शाखाओं का अध्ययन जयसिंह ने किया था। उसके लिए तुलना कीजिए मनु० अध्याय ७, श्लोक ४३।]

३५. अति विस्तृत, दुरागम और विप्रकीर्ण शब्दानुशासन से कदर्थित उस राजा की प्रार्थना पर हेमचन्द्र ने नियमों के अनुसार शब्दानुशासन की रचना की, जो कि अन्तिम प्रयत्न ही नहीं है।

[टिप्पणी—'दुरागम'-'अध्ययन दुरूह' का अभिप्राय 'जो गलत हो वह सिखाना' भी हो सकता है। 'नियमों के अनुसार' अर्थात् इस प्रकार कि जिसमें उणादिसूत्र, गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन सहित पाँच भाग थे और परिपाटी के अनुसार जो पंचांगम् व्याकरण कहलाता है।]

३४. हेमचन्द्र के व्याकरण के विषय में देखो—कीलहार्न का Weiner Zeitschrift fur die Kunde des Morgenlandes Vol. II पृ. १८; पिशेल के आठवें अध्याय की आवृत्ति की प्रस्तावना और बर्लिन पुस्तकालय के संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों की ए० व्येबर की सूची में हस्तलिखित पुस्तकों

का विवरण। और जयसिंह के समय की ऐतिहासिक घटनाओं को टीका के उदाहरणों के उल्लेखों के लिए देखो-कीलहार्न, इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ७, पृ. २६७। स्वयम् हेमचन्द्र की लिखी टीका दो प्रकार की पाई जाती है—बृहत और लघु वृत्ति। दोनों प्रामाणिक हैं। दोनों टीकाओं में उदाहरण और प्रशस्ति हैं, इतना ही नहीं, उनकी प्रामाणिकता में यह भी कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र के शिष्य उदयचन्द्र और उसके शिष्य देवेन्द्र ने कदाचित् हेमचन्द्र के जीवन-काल में ही परन्तु सन् १२१८ ई० के पहले, अवश्य ही बृहत् वृत्ति पर भाष्य 'कतिचिद्दुर्गपदव्याख्या' नाम से लिखा था। इस भाष्य की हस्तलिखित प्रति बर्लिन में है, देखो—व्येबर पृ. २३७, तुलना कीजिये पृ. २३३, २४०। उसकी ताड़पत्रीय प्रति जो जैसलमेर के बृहद् ज्ञानकोश में है, वह हेमचन्द्र के निधन के लगभग ४० वर्ष बाद लिखी गई है। मेरे अनुलेखों [नोट्स] के अनुसार उसका प्रारम्भिक अंश इस प्रकार पढ़ा जाता है :—

॥ अर्हं ॥ प्रणम्य केवलालोकावलोकितजगत्त्रयम् ।
जिनेशं श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासने ॥ १ ॥
शब्दविद्याविदां वन्द्योदयचन्द्रोपदेशतः ।
न्यासतः कतिचिद्दुर्गपदव्याख्याभिधीयते ॥ २ ॥

और आखिरी पत्र १८६ है : व्याकरणचतुष्कावचूर्णिकायां षष्ठः पादः समाप्तः । प्रथम-पुस्तिका प्रमाणीकृता ॥ संवत् १२७१ वर्षे कार्तिक शुदि षष्ठ्यां शुक्रे श्रीनरचन्द्र-सूरीणाम् आदेशेन प० । यह तिथि ता० १० अक्टोबर सन् १२१४ ई० शुक्रवार को थी।

लघु वृत्ति की प्राचीनतम प्रति जो खम्भात के भण्डार में सुरक्षित है, हेमचन्द्र की जीवितावस्था में वि. सं. १२१४ भाद्रपद सुदी ३ बुध की लिखी हुई है, देखो-पिटरसन का प्रथम प्रतिवेदन परिशिष्ट पृ. ७०–७१। जिस प्रति का उपयोग पिशेल ने प्राकृत-व्याकरण के अपने संस्करण के लिए किया है, उसमें लघु वृत्ति का नाम 'प्रकाशिका' दिया है। यह नाम बहुधा नहीं मिलता।

ढुंढिका अर्थात् टीका में प्रयुक्त शब्दों का व्युत्पत्तिक अर्थ हेमचन्द्र द्वारा नहीं लिखा गया था, हालाँकि कभी-कभी वह भी पदों की पुष्पिका [कोलोफन आव दी पदाज्] में उन्हीं का लिखा कहा गया है। संस्कृत व्याकरण की ढुंढिका [व्येबर

पृ. २३८] विनयचन्द्र की लिखी और प्राकृत व्याकरण की उदयसौभाग्य गणि की है, (डेक्कन कालेज संग्रह १८७३–७४ सं. २७६)। इस पिछली प्रति में टीका में उद्धृत सभी प्राकृत गाथाओं का संस्कृत अनुवाद भी दिया गया है।

३५. देखो—Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes (वियेना ओरियंट जर्नल) में और इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग १५, पृ. १८१ आदि में कीलहार्न के निबन्ध। तुलना करो ओ. फ्रँके का लिंगानुशासन पृ. १४। बुद्धिसागर का व्याकरण जिसका कि उपयोग हेमचन्द्र ने किया था, प्राप्य है। जैसलमेर के बृहद् ज्ञानकोश में तेरहवीं सदी की लिखी इसकी एक ताड़-पत्रीय प्रति उपस्थित है। प्रभावकचरित्र के श्लोक के अनुसार जिसे कि क्लाट ने इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ११, पृ. २४८, टिप्पण २० में उद्धृत किया है, उसमें ८००० ग्रन्थ हैं। बुद्धिसागर ११ वीं सदी के प्रारम्भ में विद्यमान थे जैसा कि क्लाट ने खरतरगच्छ पट्टावली की सूचनाओं के आधार पर सिद्ध किया है। इसलिए वही श्वेताम्बरों का प्राचीनतम वैयाकरण है, जिसका अभी तक की खोजों में पता चला है।

३६. इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग १५ पृष्ठ ३२।

३७. कीलहार्न, इण्डियन एण्टीक्वेरी, व्येबर का कैटलाग डेर बर्लिनर संस्कृत और प्राकृत हैण्डशिफ्टन भाग २, विभाग पहला, पृ. २५४ जहाँ प्रशस्ति का ५वा श्लोक और पुष्पिका [कोलोफन] इस प्रकार दिया है :—

> षट्तर्ककर्कशमतिः कविचक्रवर्ती
> शब्दानुशासनमहाम्बुधिपारदृष्ट्वा।
> शिष्याम्बुजप्रकरव्ज [जु] म्भनचित्रभानुः
> कक्कल्ल एव सुकृती जयति स्थिरायाम् ॥ ५ ॥

इति पण्डितपुण्डरीकेण श्रीकक्कल्लोपदेशेन तत्त्वप्रकाशिका वृत्तिः श्रीदेवसूरिपादपद्मोपजीविना गुणचंद्रेण स्वपरोपकारार्थं श्रीहेमचन्द्रव्याकरणाभिप्रायेण प्राणायि ॥

तीसरे पद की विशुद्धि व्येबर द्वारा की गयी है। काकल-कक्कल-काकल्ल नाम के लिए मान्यखेट के अन्तिम राष्ट्रकूट राजा के शिलालेख से तुलना कीजिये जिसमें कर्क, कक्क, कक्कड या कक्कल लिखा गया है। देखिए फ्लीट के

'कनारा प्रान्त के राज्यकुल' पुस्तक पृ. ३८। यहाँ यह भी कह देना उचित है कि प्रबन्धचिन्तामणि पृष्ठ १६९ के अनुसार काकल देवसूरि के शास्त्रार्थ के समय उपस्थित था और शाकटायन व्याकरण का पाठ बताकर उसने इस प्रश्न का निराकरण किया था कि क्या 'कोटि' के लिए 'कोटी' भी शुद्ध प्रयोग होगा। प्रभावकचरित्र में यही बात उत्साह पण्डित के विषय में कही है।

३८. देखो अभिधानचिन्तामणि [बूथलिंक और रियू का संस्करण], श्लोक १, अनेकार्थ कोश १,१ [बनारस संस्करण], छन्दोनुशासन, व्येबर कैटेलोग भाग २ पृ. २६८। न तो छन्दोनुशासन में और न अलंकारचूडामणि में यह कहा गया है कि कोश सम्पूर्ण हो गये हैं। इनमें शब्दानुशासन के विषय में हाँ, जैसा कि अभिधानचिन्तामणि की प्रस्तावना मे कहा है; कहा गया है। यदि हम यह नहीं मान लेना चाहते हैं कि हेमचन्द्र ने कोश और अलंकारशास्त्र एक ही समय लिखे थे तो यह संभव है कि वे कोश को व्युत्पत्ति [Etymology] का ही एक अंग मानते थे और इसलिए उनका पृथक् रूप से नाम देना आवश्यक नहीं समझा गया होगा। प्रभावकचरित्र मे भी ऐसा ही सूचित किया गया है। शब्दानुशासन का जिक्र अलंकारचूडामणि १,२ में किया गया है—

शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिताः।
तासामिदानीं काव्यत्वं यथावदनुशिष्यते ॥ २ ॥

अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में हेमचन्द्र स्वयम् कहते हैं कि—

.... अनेन शब्दानुशासनकाव्यानुशासनयोरेककर्तृत्वम् चाह। अत एव हि प्रायोगिकमन्यैरिव नारभ्यते।

दूसरों में उदाहरण स्वरूप वामन का नाम लिया जा सकता है जिसने कि कवियों में प्रचलित अव्याकरणीय प्रयोगों के उदाहरण गिनाये हैं।

३९. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० १४८

तथा च सिद्धराजदिग्विजयवर्णने द्व्याश्रयनामा ग्रन्थः कृतः।

क्योंकि द्वयाश्रय के विषय में, फारबस के इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ४ के बारम्बार उद्धृत संक्षेप के सिवा मेरे सामने वियेना विश्वविद्यालय पुस्तकालय की प्रति भी है, जिसमें अभयतिलक की टीका के सिवा पहले दस सर्ग भी दिये हैं।

४०. रायल एशियाटिक सोसायटी, बंबई शाखा, भाग ९, पृ० ३७।

४१. प्रभावकचरित्र २२, १३०–१४० [१२९–१३९], प्रबन्धचिन्तामणि पृ० १५५–१५६। रामचन्द्र के विषय में देखो पृ० ४६। इस कथानक के पहले प्रभावकचरित्र २२, ११७–१२९ में एक चारण की कथा है, जिसने अपभ्रंश कविता द्वारा हेमचन्द्र की स्तुति की थी और उनसे भारी पारितोषिक प्राप्त किया था। मेरुतुंग ने प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २३५–२३६ में कुछ ऐसी ही कथा दी है जो कुमारपाल के राज्यकाल में हुई वहाँ मानी जाती है।

४२. प्रभावकचरित्र २२, १४१–१७३ [१४०–१७२]।

४३. प्रभावकचरित्र, २२, १७४–१८३ [१७३–१८२], प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २०५। पुरोहित आमिग एक ऐतिहासिक पुरुष है और उसके पौत्र सोमेश्वर ने अपने सुरथोत्सव में इसके विषय में उल्लेख किया है, देखो— भण्डारकर, खोज प्रतिवेदन १८८३–८४ पृ० २०। वहां यह नहीं कहा गया है कि उसने किस राजा की सेवा की थी। परंतु संभव यह प्रतीत होता है कि वह कुमारपाल की सेवा में था।

प्रभावकचरित्र के अनुसार हेमचन्द्र ने उत्तर में जो उपमा कही थी, उसका श्लोक इस प्रकार है :—

> सिंहो बली हरिणसूकरमांसभोजी,
> संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारम्।
> पारापतः खलशिलाकणभोजनोपि
> कामी भवत्यनुदिनं वद कोत्र हेतुः॥

मेरुतुंग ने पहले पद में 'द्विरदसूकर' और दूसरे में 'रतं किलैकवेलम्' पाठभेद दिया है। इससे भी भिन्न पाठ बृथलिङ्क के Indischen Spriichen याने 'भारतीय कहावतें' सं० ७०४४ में पाया जाता है। जहाँ तक मुझे पता है, इसका कोई अकाटय प्रमाण प्राप्त नहीं है कि यह श्लोक हेमचन्द्र रचित ही है।

४४. प्रभावकचरित्र २२, १८४–३८०। हेमचन्द्र की स्तुति में जो श्लोक देवबोधि ने रचा था, ऐसा कहा जाता है, वह इस प्रकार है :—

> पातु वो हेमगोपालः कम्बलं दण्डमुद्वहन्।
> षड्दर्शनपशुग्रामं चारयञ्जैनगोचरे॥

प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २२७ में भी यह श्लोक मिलता है, जहां प्रथमार्ध बनारस के कवि विश्वेश्वर का और उत्तरार्ध राजा कुमारपाल का कहा गया है। देवबोधि के सम्बन्ध में देखो पृ० ३७ और टिप्पण ७८।

४५. प्रभावकचरित्र २२, ३११-३५५। हेमचन्द्र द्वारा की गयी अम्बिका की स्तुति भक्ति-साम्प्रदायिक है, क्योंकि उसकी पूजा शासन देवता के रूप में सब जैन करते हैं। जो श्लोक शिव की स्तुति में हेमचन्द्र के रचे हुए माने जाते हैं, वे टिप्पणी ६१ में दिये गये हैं।

४६. कुमारपालचरित्र पृ० ५५-५७।

४७. तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में देखो प्रबन्धचिन्तामणि पृ० १६०-१६१। मज्जन के कथानक के लिए भी देखो वही पृ० १५९-१६०, और शिव की स्तुति के लिए वही पृ० २१३।

४८. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग ४ पृ० २६७।

४९. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० १५६-१५७ :—

> अयुक्तः प्राणदो लोके वियुक्तो मुनिवल्लभः।
> संयुक्तो सर्वथानिष्टः केवली स्त्रीषु वल्लभः॥

५०. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० १७३-१७५।

५१. कुमारपालचरित्र पृ० ३७-३८। इस कथानक का रूप जैन कथाओं जैसा है। घटनास्थल शंखपुर, वणिक शंख और उसकी पत्नी यशोमती बतायी गयी है। इसमें गणिका या नायिका की बात बिलकुल नहीं है। परतु वणिक दूसरी स्त्री ब्याह लाता है, क्योंकि वह अब पहली स्त्री को प्यार नहीं करता। इसमें कुछ संस्कृत और प्राकृत गाथाएँ भी दी गयी हैं।

५२. कुमारपालचरित्र, पृ० ३९।

५३. ये दूसरे हेमचन्द्र अभयदेवसूरि के शिष्य थे। इन्हें प्रायः कुमारपाल का गुरु मान लिया जाता है, अभयदेवसूरि ने मलधारी शाखा की स्थापना की थी और जो प्रश्नवाहनकुल, मध्यमशाखा एवम् हर्षपुरियागच्छ के थे। इसीलिए कभी-कभी इन हेमचन्द्र को मलधारी हेमचन्द्र कहा जाता है। इनकी कृतियाँ हैं :—

(१) जीवसमास—यह प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है और उस पर संस्कृत टीका है। देखो—पिटरसन, प्रथम प्रतिवेदन, परिशिष्ट १, पृ० १८ और कीलहार्न,

१८८०-१८८१ का प्रतिवेदन पृ० ९३ टिप्पण १५१। खम्भात की प्रति ग्रन्थकार की निज की लिखी वि० सं० ११६४ की है। डा० पिटरसन ने अपने टिप्पण में, प्रतिवेदन पृ० ६३ में उसे भ्रम से वैयाकरण हेमचन्द्र रचित कह दिया है और मैंने भी उसका समर्थन अपनी समीक्षा में कर दिया था।

(२) भवभावना—यह भी संस्कृत टीका सहित प्राकृत रचना है। यह वि० सं० ११७० में सम्पूर्ण हुई है। देखो-पिटरसन, तृतीय प्रतिवेदन, परिशिष्ट १, पृ० १५५-१५६, विशेष रूप से प्रशस्ति के श्लोक ६-११।

(३) उवएसमाला—यह प्राकृत ग्रन्थ है। देखो-पिटरसन, प्रथम प्रतिवेदन, परि० १ पृ० ९१। इसको स्वयम् ग्रन्थकार द्वारा ही लिखी हुई शायद संस्कृत टीका भी है। देखो-पिटरसन, तृतीय प्रतिवेदन, पृ० १७६।

(४) शतकवृत्ति-विनेयहिता—शिवसिंहसूरि के इस नाम के प्राकृत ग्रन्थ पर यह संस्कृत में रची गयी टीका है।

(५) अनुयोगसूत्र टीका—देखो-पिटरसन तृतीय प्रतिवेदन, परि० १, पृ० ३६-३७, और व्येबर का कैटेलोग भाग २, दूसरा खण्ड, पृ० ६९४।

(६) शिष्यहिता वृत्ति—यह जिनभद्र के आवश्यकसूत्र के भाष्य पर संस्कृत में रची गई टीका है। देखो-व्येबर, वही, पृ० ७८७।

इस सम्बन्ध में इतना विशेष द्रष्टव्य है कि जैनों में भी उपर्युक्त ग्रन्थों को कुमारपाल के गुरु हेमचन्द्र द्वारा रचित नहीं माना जाता है। इसलिए वे समान नामधारी समसामयिक दो आचार्य थे और जैन परम्परा यह भलीभाँति जानती है। अभयदेव के ये शिष्य हेमचन्द्र भी सिद्धराज जयसिंह के दरबार में गये थे, ऐसा देवप्रभ ने अपने पाण्डवचरित्र की प्रशस्ति में तीसरे श्लोक में कहा है [पिटरसन, तृतीय प्रतिवेदन, परि० १, पृ० ११३], जहाँ लिखा है कि 'अभयदेव के पाटपर उत्कृष्टों में चन्द्र समान सुप्रसिद्ध हेमसूरि हुए जिनके वाक्यामृत का पान सिद्धराज राजा ने किया था। देवप्रभ और हेमचन्द्र के बीच में, जैसा कि प्रशस्ति में आगे कहा गया है, तीन पीढ़ियाँ बीत गई थीं और इसलिए देवप्रभ कदाचित् १३वीं शती में हुए हों। उसी गण का बहुत बाद में होनेवाला सदस्य प्रबन्धकोशकार राजशेखर है, जिसने १४वीं शती के अन्त के लगभग यह रचना की थी [देखो-ऊपर टिप्पण ३]। श्रीधर को

न्यायकंदली की टीका की प्रशस्ति में [पिटरसन, तृतीय प्रतिवेदन, परि० १, पृ० २७४] वह हेमचन्द्र को अभयदेवसूरि का शिष्य इस प्रकार बताता है :—

(७) अनेक गुणों से विभूषित श्री हेमचन्द्र नाम के सूरि थे, जिन्होंने एक लाख श्लोकों की रचना की और निर्ग्रन्थों में ख्याति प्राप्त की।

(८) उन्होंने पृथ्वीपति सिद्धराज को जागृत किया और उससे अपने एवम् पर-राज्यों के समस्त जिन मन्दिरों पर ध्वजदण्ड और सुवर्ण कलश चढ़वाया।

(९) उसके उपदेश से सिद्धराज ने ताम्रपत्र पर यह आदेश खुदवाया कि प्रति वर्ष ८० दिन तक पशुहिंसा नहीं की जाएगी।

५४. पिटरसन, तृतीय प्रतिवेदन, परि० १, पृ० ९६ अममस्वामी चरित्र की प्रशस्ति का ९वां श्लोक। ग्रन्थकार मुनिरत्न ने अपना यह ग्रन्थ वि० सं० १२५२ में लिखा था और वह समुद्रघोष का शिष्य था।

५५. कुमारपाल के पूर्व-पुरुषों का उल्लेख हेमचन्द्र ने द्व्याश्रयकाव्य में किया है [इण्डियन एण्टीक्वेरी, वही, पृ० २३२, २३४, २६७]। वहाँ हम पहले ही वाक्य में पढ़ते हैं कि क्षेमराज ने राज्याधिकार अपनी इच्छा से ही त्याग दिया था, क्योंकि वह साधुवृत्ति वाला था। प्रभावकचरित्र २२, ३४४-३४५ में वंश-वृक्ष का जो अंश दिया है, वह द्व्याश्रय के वंशवृक्ष से मिलता हुआ है। वहाँ लिखा है कि—

> इतः श्रीकर्णभूपालव [=]धुः क्षे[क्ष]त्रशिरोमणिः।
> देवप्रसाद इत्यासीत् प्रासाद इव सम्पदाम् ॥ ३४४ ॥
> तत्पुः [त्रः] श्र [श्री] त्रिभुवन-पाल [:] पालितम[स]द्व्रतः।
> कुमारपालस्तत्पुत्रो राज्यलक्षणलक्षितः ॥ ३४५ ॥

मेरुतुंग प्रबन्धचिन्तामणि पृ. १९१ में कुछ पृथक् पड़ जाता है, क्योंकि वह वंशावली इस क्रम से देता है :—[१] भीम प्रथम, [२] हरिपाल, [३] त्रिभुवन-पाल, [४] कुमारपाल। केवल इसी ग्रन्थ में हम यह भी लिखा पाते हैं कि कुमारपाल का पूर्वज चोला देवी गणिका का पुत्र था। यह सत्य होते हुए भी कि यह वर्णन बाद के ग्रन्थ में ही पहले पहल पाया जाता है, फिर भी यथार्थ हो सकता है, क्योंकि इससे कुमारपाल के प्रति जयसिंह की घृणा की बात सहज ही

स्पष्ट हो जाती है। यदि हेमचन्द्र इस विषय में कुछ भी नहीं कहता है तो इस बात को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि अपने आश्रयदाता को अवैधवंशानुगत का कलंक वे नहीं लगा सकते थे। कुमारपालचरित्र पृ. ८ में जिनमण्डन कहता है कि भीम की पहली स्त्री [वृद्धा] चकुलदेवी क्षेमराज की माता थी और क्षेमराज ने छोटे भाई के प्रेम के कारण राज्याधिकार सहर्ष त्याग दिया था। पृ. ४३ में वंशवृक्ष ठीक हेमचन्द्र जैसा ही देता है और यह भी कहता है कि कुमारपाल की माता काश्मीरी कुमारी [काश्मीरादेवी] थी। कोई अज्ञात ऐतिहासिक उल्लेख [भण्डारकर, प्रतिवेदन आदि, १८८३-१८८४ सं० ११] ऐसा कहता है कि वह जयसिंह सिद्धराज की बहन थी। परन्तु इसकी अपेक्षा तो उसके काश्मीर की कुमारी होने की बात बहुत संभव लगती है। राजपूतों में उसी वंश मे विवाह वर्ज्य है और ऐसा विवाह कभी भी नहीं होता। कुमारपाल के प्रति जयसिंह की शत्रुता ने जिनमण्डन से पृ. ५८ में ऐसा कहलवा दिया है कि राजा, कुमारपाल को मार्ग से दूर हटा कर, शिव-कृपा से पुत्र प्राप्ति की बलवती आशा लगाये था। हेमचन्द्र ने द्व्याश्रयकाव्य राजकवि रूप से लिखा है, शायद इसीलिए कुमारपाल के प्रति जयसिंह की घृणा का उल्लेख ही उसमें नहीं किया। कुमारपाल के पलायन और भटकने की कथा भी प्रभावकचरित्र, मेरुतुंग और बाद के प्रबन्ध ग्रन्थों में ही मिलती है। फिर भी इस कथानक की यथार्थता के समर्थन में एक श्लोक मोहराजपराजय [कीलहार्न, प्रतिवेदन १८८०-१८८१, पृ. ३४] में इस प्रकार का मिलता है :—'यह गुजराज का राजा, जिसने कि निरी जिज्ञासा वृत्ति से संसार भर का भ्रमण अकेले ही किया था, चौलुक्य वंश का शिरोमणि, किसको अज्ञात है' इत्यादि। यहाँ कुमारपाल के भटकने का स्पष्ट निर्देश है। यशपाल ने कुमारपाल की मृत्यु के ठीक पश्चात ही अजयपाल के राज्यकाल में लिखे अपने उक्त ग्रन्थ मे जो लिखा है, वह साक्षी रूप में महामूल्यवान है। कुमारपाल का राज्याभिषेक वि० सं० ११९९ में निःसन्देह ही हुआ था, जैसा कि प्रबन्धों में दिया है और जैसा कि हेमचन्द्र भी [देखो नीचे टिप्पण ६६] अपने महावीरचरित्र में लिखता है। उसके राज्यकाल का प्राचीनतम लेख [भावनगर प्राचीन शोध संग्रह पृ. १-१०] मांगरोल-मंगलपुर का वि० सं० १२०२ का है। मेरुतुंग की विचारश्रेणी के अनु-

सार राज्यारोहण का दिन मार्गशीर्ष सुदी ४ है, परन्तु उसी लेखक की प्रबन्ध-चिंतामणि पृ. १९४ के अनुसार वह कार्तिक बदी २ रविवार हस्त नक्षत्र है। जिनमण्डन ने कुमारपालचरित्र पृ. ५८ और ८३ में मार्गशार्ष सुदी ४ रविवार दिया है।

५६. प्रभावकचरित्र २२,३५७–४१७।

५७. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० १९२–१९४।

५८. कुमारपालचरित्र पृ० ४४–५४। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनेक उद्धरणों से समलंकृत उपदेश पूरा का पूरा यहाँ दिया हुआ है।

५९. कुमारपालचरित्र, पृ० ५८–८३। हेमचन्द्र और उदयन का मिलन-वृत्त उसके पृ० ६६–७० में दिया गया है।

६०. प्रभावकचरित्र, २२, ४१७–५९५। उद्धरण अनेक विषयान्तर कथाओं द्वारा बहुत लंबा कर दिया गया है। राजा से प्रथम सम्भाषण में [४२९–४५६] वाग्भट अपने पिता उदयन की मृत्यु की कथा कहता है, जो कि कुमारपाल के भाई कीर्तिपाल के साथ सोरठ के राजा नवघण के विरुद्ध लड़ने गया था और युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ था। फिर अर्णोराज के विरुद्ध किए गये अन्तिम अभियान एवम् सफल युद्ध का विस्तार के साथ वर्णन है जो चन्द्रावती और आबू के परमार राजा विक्रमसिंह के कुमारपाल के विरुद्ध किये गये धावे के कथानक से अति लंबा कर दिया गया है। हेमचन्द्र के निमंत्रण और कुमारपाल के साथ के वार्तालाप सम्बन्धी अंश इस प्रकार हैं :—

अन्येद्युर्वाग्भटामात्यं धर्मोत्यन्तकवासनः ।
अपृच्छद्दाहृताचारोपदेष्टारं गुरुं नृपः ॥ ५८१ ॥
सूरे[:] श्रोहयम[हेम]चन्द्रस्य गुणगौरवसौरभ[भं] ।
आख्यदख्याम[त]विद्योघमध्यामो[ध्यात्म]प्रशमश्रियं ॥५८२॥
शीघ्रमाहूयतामुक्तो[क्ते] राज्ञा वाग्भटमन्त्रिणा ।
राजवेश्म[न्य]नीयन्त सूरयो बहुमानतः ॥ ५८३ ॥
अभ्युत्थाय महीशेन दत्तासंन्यु[सना स]पाविशन् ।
राजाह मु[सु]गुरो धर्मं दिश जैनं तमोहरम् ॥ ५८४ ॥
अथ ईव[तं च] दयामूलमाचख्यौ स मुनीश्वरः ।

असत्यस्तेनताब्रह्मपरिग्रहविवर्जनम् ।। ४८४ ।।
निशाभोजनमुक्तिश्च मांसाहारस्य हेयता ।
श्रुतिस्मृतिस्वसिद्धान्तनियामकशतै[र्] दृढा ।। ४८६ ।।

उक्तं च योगशास्त्रे ।। [प्रकाश ३, १८-२२]·········

इत्यादिसर्वहेयानां परित्यागमुपादिशत् ।
तथेति यति[कृत्वा] जग्राह तेषां च नियमान्नृपः ।। ४६२ ।।
श्रीचैत्यवन्दनस्तोत्र[त्रं] स्तुतिमुख्यमधीतवान् ।
वंदनवाक्षामणालोचप्रतिक्रमणकान्यपि [?] ।। ४६३ ।।
प्रत्याख्यानानि सर्वाणि तथागा[गम] विचारिका[कां] ।
नित्यद्व्यशनमाधानू[?] पर्वस्वेकाशनं तथा ।। ४६४ ।।
स्ता[स्तो]त्राचारप्रकारं चारात्रिकस्याप्यशिक्षते[त] ।
जैनं विधिं समभ्यस्य चिरश्रावकवद् बभो[भौ] ।। ४६५ ।।

६१. प्रबन्धचिन्तामणि पृ० १९५–१९७ में कुमारपाल की उसके विरोधी सलाहकारों से लड़ाई का वर्णन है। पृ० १९७–१९९ में अर्णोराज के विरुद्ध अभियान का और अपने हितैषियों में पारितोषिक वितरण का, पृ० २००–२०१ में सोल्लाक गायक के साहसों का, पृ० २०१–२०३ में मल्लिकार्जुन से युद्ध एवम् उसकी पराजय का, पृ० २०३–२०६ में हेमचन्द्र के कुमारपाल के दरबार में प्रवेश का, और उसके बाद होने वाली घटनाओं का, पृ० २०७–२१७ में शिव-सोमनाथ के मंदिर के निर्माण का, देवपट्टन की यात्रा का, और राजा के धर्म-परिवर्तन का वर्णन है। हेमचन्द्र की बाल्यावस्था का उदयन द्वारा वर्णन पीछे की कथा में पृ० २०८–२११ में घुसा दिया गया है [देखो पृ० ५–६ पीछे]। शिव की स्तुति में हेमचन्द्र द्वारा रचित कहे जाने वाले श्लोक पृ० २१३ में इस प्रकार हैं :—

यत्र तत्र समये यथा तथा योसि सोस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवानेएक एव भगवन् नमोस्तु ते ।। १ ।।
भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो वा नमस्तस्मै ।। २ ।।

ये श्लोक वे ही हैं जो हेमचन्द्राचार्य ने, प्रभावकचरित्र के अनुसार, सिद्धराज के साथ देवपट्टन की यात्रा के समय रचे थे। वस्तुतः ये वे ही हैं या नहीं, इस शंका का निराकरण कठिन है। फिर भी यह बिलकुल संभव लगता है कि किसी भी समय में हेमचन्द्र ने अपने किसी एक शैव आश्रयदाता के लिए इस विचित्र रीति से और द्व्यर्थक शब्दों में शिव की स्तुति करना स्वीकार कर लिया हो।

६२. कुमारपालचरित, पृ० ८७–८८ :

अथ कर्णावत्या' श्रीहेमाचार्याः श्रीकुमारस्य राज्याप्तिं श्रुत्वा उदयनमन्त्रिकृतप्रवेशोत्सवाः पत्तने प्रापुः। पृष्टो मन्त्री। राजास्माकं स्मरति न वेति। मन्त्रिणोक्तम्। नेति। ततः कदाचित्सूरिभिरूचे। मन्त्रिन् त्वं भूपं ब्रूया रहः। अद्य त्वया नं. राज्ञीगृहे नैव सुप्तव्यम् [रा०] रात्रौ सोपसर्गत्वात्। केनोक्तमिति पृच्छेन् तदास्यामहे मन्नाम वाच्यम्। ततो मन्त्रिणा तथोक्ते राज्ञा च तथा कृते निशि विद्युत्पातात्तस्मिन् गृहे दग्धे राज्यां च मृतायां चमत्कृतो राजा जगाद सादरम्। मन्त्रिन् कस्येदमनागतज्ञानं महत्परोपकारित्वं च। ततो राज्ञोतिनिर्बन्धे मन्त्रिणा श्रीगुरूणाम् आगमनमूचे। प्रमुदितो नृपस्तान् आकारयामास सदसि। सूरीन् दृष्ट्वासनादुत्थाय वन्दित्वा प्रांजलिरुवाच। भगवन् अहं निजास्यमपि दर्शयितुं नालं तत्रभवताम्। तदा च स्तम्भतीर्थे रक्षितो भाविराज्यसमयचिटिका चार्पिता। परमहं प्राप्तराज्योपि नास्मार्षं युष्माकं निष्कारणप्रथमोपकारिणाम्। कथंचनाप्यहं नानृणो भवामि। सूरिभिरूचे। कथमित्थं विकत्थसे त्वमात्मानं मुधा राजन् उपकारक्षणो यत्त संप्रति समागतोस्ति। ततो राजाह। भगवन् पूर्वप्रतिश्रुतमिदं राज्यं गृहीत्वा मामनुगृहाण। ततः सूरिः प्रोवाच। राजन् निस्संगानामस्माकं राज्येन [किम्]। चेद् भूपत्वं प्रत्युपचिकीरसि आत्मनीते [?] तदा जैनधर्मे धेहि निज मनः। ततो राजाह। भवदुक्तं करिष्येहं सर्वमेव शनैःशनैः। कामयेहं परं संगं निधेरिव तव प्रभो [:]॥ अतो भवद्भिरिह प्रत्यहं समागम्यं प्रसद्य। एवमंगीकृत्य यथाप्रस्तावं च सभायामागत्य धर्ममर्मान्तराणि सूरिराख्यातवान्॥

६३. कुमारपालचरित्र, पृ० ८८–१२७। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि जिनमण्डन ने कुमारपाल के अर्णोराज के साथ के बारह वर्ष लम्बे युद्ध की

और अजितनाथ स्वामी की कृपा से उसके पराजय की प्रभावकचरित्र में कही गयी कथा को निरर्थक समझ कर छोड़ नहीं दिया है। वह उसको आगे पृ० २३२ में सम्बन्ध नहीं होते हुए भी छुवा देता है।

६४. जे० टॉड—'पश्चिमी एशिया में भ्रमण' ग्रन्थ पृ० ४०४ सं० ५-वहाँ दिया उद्धरण बिलकुल अविश्वसनीय है। रा० ए० सो० बंबई शाखा की पत्रिका भाग ८ पृ० ५८-५९ में फारबस का आंशिक अनुवाद कुछ अच्छा है। महत्वपूर्ण शिलालेखों का श्री वजेशंकर जी० ओझा सम्पादित संस्करण Wiener Zeitschr of die Kunde des Morgenlandes भाग ३ पृ० १ आदि में प्रकाशित हुआ था। उसमें सम्बन्धित श्लोक इस प्रकार दिया है:—

एवं राज्यमनारतं विदधति श्रीवीरसिंहासने
श्रीमद्धारकुमारपालनृपतौ त्रैलोक्यकल्पद्रुमे।
गण्डो भावबृहस्पतिः स्मररिपोरुद्योतय देवालयं
जीर्णं भूपतिमाह देवसदनं प्रोद्धर्तुमेतद्वचः ॥ ११ ॥

इस लेख की तिथि, वल्लभी सवत् ८५०, का शुद्ध तदनुकूल ईसवी या विक्रम संवत् नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें मास और सप्ताह का दिन नहीं दिया है। फिर भी यह वि० सं० १२२५ के साथ मेल खाता है और सन् ११६९ ई० का मई या जून माह हो ऐसा संभव है।

६५. इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ८ पृ० २६७—२६९।

६६. यह महत्वपूर्ण अंश, जिसकी ओर सवप्रथम प्रो० एच० एच० विल्सन के ग्रन्थ [रोस्ट संस्करण] भाग १ पृ० ३०३ आदि में ध्यान आकर्षित किया गया था। महावीरचरित्र, सर्ग १२, श्लोक ४५—९३ में है। निम्न प्रतिलिपि के लिए मैं डा० रा० गो० भण्डारकर का ऋणी हूँ जो डेकन कालेज संग्रह के लिए सन् १८७४ ई० में मेरे द्वारा खरीदी गई हस्तलिखित प्रति पर से उन्होंने शास्त्री वामनाचार्य झलकीकर से मेरे लिए कराई थी। श्लोक ४५, ५२, ५३, ५८, ०२, ६३, ६८, ६९, ७८, ७९, ८५ और ९१ में संशोधन प्रतिलिपिकार का ही सुझाया हुआ है।

अस्मिन्[स्म]न्निर्वाणतो वर्षशत्या [ता]न्यभय षोडश।
नवषष्टिश्च यास्यन्ति यदा तत्र पुरे तदा ॥ ४५ ॥

कुमारपालभूपालश्चो [श्चौ]लुक्यकुलचन्द्रमाः ।
भविष्यति महाबाहुः प्रचण्डाखण्डशासनः ॥ ४६ ॥
स महात्मा धर्मदानयुद्धवीरः प्रजां निजाम् ।
ऋद्धिं नेष्यति परमां पितेव परिपालयन् ॥ ४७ ॥
ऋजुरप्यतिचतुरः शान्तोप्याज्ञादिवस्पतिः ।
क्षमावानप्यधृष्यश्च स चिरं क्ष्मामविष्यति ॥ ४८ ॥
स आत्मसदृशं लोकं धर्मनिष्ठं करिष्यति ।
विद्यापूर्णम् [र्णं] उपाध्याय इवान्तेवासिनं हितम् ॥ ४६ ॥
शरण्यः शरणेच्छूनां परनारीसहोदरः ।
प्राणेभ्योपि धनेभ्योपि स धर्मं बहु मंस्यते ॥ ५० ॥
पराक्रमेण धर्मेण दानेन दययाज्ञया ।
अन्यैश्च पुरुषगुणैः सोद्वितीयो भविष्यति ॥ ५१ ॥
स कौबेरीमातुरुष्व[ष्क]मैन्द्रीमात्रिदशापगम् ।
याम्यामाविन्ध्यमावार्धि[धि] पश्चिमां साधयिष्यति ॥ ५२ ॥
अन्यदा वज्रशाखायां मुनिचन्द्रकुलोद्भवम् ।
आचार्यं हेमचन्द्रं स द्रक्ष्यति क्ष[क्षि]तिनायकः ॥ ५३ ॥
तद्दर्शनात् प्रमुदितः केकीवाम्बुददर्शनात् ।
तं मुनिं वन्दितुं नित्यं स भद्रात्मा त्वरिष्यते ॥ ५४ ॥
तस्य सूरेर्जिनचैत्ये कुर्वतो धर्मदेशनाम् ।
राजा सश्रावकामात्यो वन्दनाय गमिष्यति ॥ ५५ ॥
तत्र देवं नमस्कृत्य स तत्त्वमविदन्नपि ।
वन्दिष्यते तमाचार्यं भावशुद्धेन चेतसा ॥ ५६ ॥
स श्रुत्वा तन्मुखात् प्रीत्या विशुद्धां धर्मदेशनाम् ।
अणुव्रतानि सम्यक्त्वपूर्वकाणि प्रपत्स्यते ॥ ५७ ॥
स प्राप्तबोधो भविता श्रावकाचारपारगः ।
आस्थानेपि स्थितो धर्मगोष्ठ्या स्वं रमयिष्यति ॥ ५८ ॥
अन्नशाकफलादीनां नियमांश्च विशेषतः ।
आदास्यते स प्रत्यहं प्रायेण ब्रह्मचर्यकृत् ॥ ५६ ॥

साधारणस्त्रीर्न परं स सुधीर्वर्जयिष्यति ।
धर्मपत्नीरपि ब्रह्म चरितुं बाधयिष्यति ॥ ६० ॥
मुनेस्तस्योपदेशेन जीवाजीवादितत्त्ववित् ।
आचार्य इव सोन्येषामपि बोधिं प्रदास्यति ॥ ६१ ॥
येर्हध [द्ध] र्मोद्विपः [षः] केपि पाण्डुरङ्गद्विजादयः ।
तेपि तस्याज्ञया गर्भश्रावका इव भाविनः ॥ ६२ ॥
अपूजितेषु चैत्येषु गुरुच [ष्व] प्रणतेषु च ।
न भोक्ष्यते स धर्मज्ञः प्रपन्नश्रावकव्रतः ॥ ६३ ॥
अपुत्रमृतपुसां स द्रविणं न ग्रहीष्यति ।
विवेकस्य फलं ह्येतदतृप्ता ह्यविवेकिनः ॥ ६४ ॥
पाण्डुप्रभृतिभिरपि या त्यक्ता मृगया न हि ।
स स्वयं त्यक्ष्यति जनः सर्वोपि च तदाज्ञया ॥ ६५ ॥
हिंसानिषेधके तस्मिन् दूरेस्तु मृगयादिकम् ।
अपि मत्कुणयूकादीन् नान्त्यजोपि हनिष्यति ॥ ६६ ॥
तस्मिन् निषिद्धपापर्द्धावरण्ये मृगजातयः ।
सदाप्यविघ्नरोमन्था भाविन्यो गोष्ठधेनुवत् ॥ ६७ ॥
जलचरस्थलचरखग [खे] चराणां स देहिनाम् ।
रक्षिष्यति सदामारिं शासने पाकशासनम् [नः] ॥ ६८ ॥
ये वा [चा] जन्मापि मांसादास्ते मांसस्य [स्य] कथामपि ।
दुःस्वप्नमिव तस्याज्ञावशान्नेष्यन्ति विस्मृतिम् ॥ ६९ ॥
दशार्हैर्न परित्यक्तं यत्पुरा श्रावकैरपि ।
तन्मद्यमनवद्यात्मा स सर्वत्र निरोत्स्यति ॥ ७० ॥
स तथा मद्यसंधानं निरोत्स्यति महीतले ।
न यथा मद्यभाण्डानि घटयिष्यति चक्र्यपि ॥ ७१ ॥
मद्यपानं [नां] सदा मद्यव्यसनक्षीणसंपदाम् ।
तदाज्ञात्यक्तमद्यानां प्रभविष्यन्ति संपदः ॥ ७२ ॥
नलादिभिरपि क्ष्मापैर्द्युतं त्यक्तं न यत्पुरा ।
तस्य स्ववैरिण इव नामाप्युन्मूलयिष्यति ॥ ७३ ॥

पारावतपणक्रीडाकुक्कुं [क्कु]टयोघनान्यपि ।
न भविष्यन्ति मेदिन्यां तस्योदयिनि शासने ॥ ७४ ॥
प्रायेण स प्रतिग्राममपि निःसीमवैभवः ।
करिष्यति महीमेतां जिनायतनमण्डिताम् ॥ ७५ ॥
प्रतिग्रामं प्रतिपुरमासमुद्रं महीतले ।
रथयात्रोत्सवं सोर्हप्र [त्प्र]तिमानं करिष्यति ॥ ७६ ॥
दायंदायं द्रविणानि विरचय्यानृणं जगत् ।
अंकयिष्यति मेदिन्यां स संवत्सरमात्मनः ॥ ७७ ॥
प्रतिमाम्पाशु [पांसु] गुप्तां तां कपिलर्षिप्रतिष्ठिताम् ।
एकदा श्रोष्यति कथाप्रसंगे तु गुरोर्मुखात् ॥ ७८ ॥
पांशु [सु] स्थलं खानयित्वा प्रतिमां विश्वपावि [व] नीम् ।
आनेष्यामीति स तदा करिष्यति मनोरथम् ॥ ७६ ॥
तदेव [तदैत] मनुत्साहं निमित्तान्यपराण्यपि ।
ज्ञात्वा निश्चेष्यते राजा प्रतिमां हस्तगामिनीम् ॥ ८० ॥
ततो गुरुमनुज्ञाप्य नियोज्यायुक्तपौरुषान् ।
प्रारप्स्यते खानयितुं स्थलं वीतभयस्य तत् ॥ ८१ ॥
सत्त्वेन तस्य परमार्हतस्य पृथिवीपतेः ।
करिष्यति [तु] सांनिध्यं तदा शासनदेवता ॥ ८२ ॥
राज्ञः कुमारपालस्य तस्य पुण्येन भूयसा ।
खन्यमाने स्थले सु [म] क्षु प्रतिमाविर्भविष्यति ॥ ८३ ॥
तदा तस्यै प्रतिमायै यदुदायनभूभुजा ।
ग्रामाणां शासनं दत्तं तदप्याविर्भविष्यति ॥ ८४ ॥
नृपायुक्तास्तां प्रतिमां प्रन्ना[त्ना]मपि नवामिव ।
रथमारोपयिष्यन्ति पूजयित्वा यथाविधि ॥ ८५ ॥
पूजाप्रकारेषु पथि जायमानेषु अनेकशः ।
क्रियमाणेष्वहोरात्रं संगीतेषु निरन्तरम् ॥ ८६ ॥
तालिकारासिकैपूच्चैर्भवति [भवत्सु] ग्रामयोषिताम् ।
पञ्चशब्देष्वातोद्येषु वाद्यमानेषु संमदात् ॥ ८७ ॥

पक्षद्वये चामरेषूत्पतत्सु च पततसु च।
नेष्यन्ति सप्र[त्र]तिमां तां युक्ता. पत्तनसीमनि ॥ ८८ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ॥

सान्तःपुरपरीवारश्चतुरंगचमूवृतः।
सकलं संघमादाय राजा तामभियास्यति ॥ ८६ ॥
स्वयं रथात्समुत्तीर्य गजेन्द्रमधिरुह्य च।
प्रवेशयिष्यति पुरं प्रतिमां तां स भूपतिः ॥ ६० ॥
उपस्वभु [भ]वनं क्रीडाभवने सनिवेश्य ताम्।
कुमारपालो विधिवत् त्रिसंध्यं पूजयिष्यति ॥ ६१ ॥
प्रतिमायास्तथा तस्या वाचयित्वा स शासनम्।
उद्दा [दा]यनेन यद्दत्तं तत् प्रमाणीकरिष्यति ॥ ६२ ॥
प्रासादोऽष्टापदस्यैव युवराजः [ज] स कारितः।
जनयिष्यत्यसंभाव्यो विस्मय जगतोपि हि ॥ ६३ ॥
स भूपतिः प्रतिमया तत्र स्थापितया तया।
एधिष्यते प्रतापेन ऋद्ध्या निःश्रेयसेन च ॥ ६४ ॥
देवभक्त्या गुरुभक्त्या त्वत्पितुः सदृशोभय।
कुमारपालो भूपालः स भविष्यति भारते ॥ ६५ ॥
इति श्रुत्वा नमस्कृत्य भगवन्तमथाभयः।
उपश्रो [श्रे]णिकमागत्य वक्तुमेवं प्रचक्रमे ॥ ६६ ॥

पहले श्लोक में दी गयी तिथि असाधारण महत्व पूर्ण है। उससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने अन्य श्वेताम्बराचार्यों की ही तरह, महावीर का निर्वाण विक्रम संवत के प्रारम्भ से ४७० वर्ष पहले माना था। क्योंकि १६६९–४७० ही वि० स० ११९९ कुमारपाल के राज्यारम्भ का यथार्थ काल बताता है। याकोबी ने कल्पसूत्र, पृ० ८ में इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्पित किया है कि हेमचन्द्र का परिशिष्टपर्व मे वर्णन साधारण गणना से मेल नहीं खाता। परिशिष्टपर्व ८, ३३९ में चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर निर्वाण के १५५ वर्ष बाद माना गया है, जब कि प्राचीन गाथाओं में उसमें ६० वर्ष और बढ़ा दिये हैं। इन गाथाओं में कहा गया है कि महावीर का निर्वाण उस रात्रि में

हुआ था जिसमें पालक का राज्याभिषेक हुआ था। उनके अनुसार, पालक ने ६० वर्ष, नन्दों ने १५५ वर्ष राज्य किया था और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण और विक्रम संवत के प्रारम्भ तक २५५ वर्ष व्यतीत हो गये थे। इस पर याकोबी ने दो स्थापनाएँ कीं। एक तो यह कि हेमचन्द्र ने किसी अच्छी सम्प्रदाय परम्परा पर भरोसा रखते हुए, पालक के ६० वर्ष छोड़ दिये थे। और दूसरी यह कि उन्होंने निर्वाण विक्रम संवत के प्रवर्तन से ४१० वर्ष पहले, अर्थात ईसा पूर्व ४६६–६७ वर्ष में मान्य किया। मुझे ये स्थापनाएं उचित नहीं प्रतीत होतीं। क्योंकि परिशिष्टपर्व ६, २४३ के अनुसार

> अनन्तरं वर्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
> गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नन्दोभवन्नृपः॥

नन्दराजा महावीर निर्वाण के ६० वर्ष बाद राज्य पर बैठा था। परिशिष्टपर्व की गणना इसलिए इस प्रकार है :—निर्वाण से प्रथम नन्द के राज्यारोहण तक ६० वर्ष, प्रथम नन्द के राज्यारोहण से चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण तक ९५ वर्ष अथवा दोनों को मिला कर १५५ वर्ष। इससे याकोबी की प्रथम स्थापना गलत प्रमाणित हो जाती है। दूसरी स्थापना के विषय में यह बात है कि अभी तक यह प्रमाणित नहीं हुआ है कि हेमचन्द्र ने गाथाओं की भाँति ही, चन्द्रगुप्त और विक्रम संवत् प्रवर्तन का अन्तर २५५ वर्ष ही माना है। महावीरचरित्र के अनुसार निर्वाण विक्रम संवत् प्रवर्तन से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। यह बात बताती है—यदि परिशिष्टपर्व की गणना में असावधानी से स्खलना नहीं हुई है तो—कि हेमचन्द्र चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण और विक्रम संवत प्रवर्तन में ३१५ वर्ष मानते थे और इसलिए लंका के बौद्धों की मान्यतानुसार चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण बहुत पूर्व मानते थे। इसलिए मुझे तो ऐसा लगता है कि बारहवीं सदी के जैन महावीर निर्वाण की दो तिथियाँ मानते थे : एक तो ई. ५९७–५९६ और दूसरी ४६७–४६६। ऐसा मान लेना अनुचित है। जैनों सम्बन्धी अपने भाषण के टिप्पण सं. १४ में, मुद्रित पुस्तिका के पृ. ३८ में मैंने यह प्रमाणित कर दिया है कि यदि शाक्यमुनि गौतम का निर्वाण ईसा पूर्व ४०० वर्ष में हुआ था, तो महावीर का निर्वाण ईसा पूर्व ४६७–४६६ में ठीक नहीं हो सकता है।

६७. वाग्भट कुमारपाल का एक अमात्य था, ऐसा कुमारबिहार की प्रशस्ति के श्लोक ८७ में कहा गया है। देखो–पिटरसन, तृतीय प्रतिवेदन का परिशिष्ट पृ. ३१६। यह एक अत्यन्त महत्व की बात है। क्योंकि वाग्भट का नाम, कुमारपाल के राज्य के किसी भी लेख में, जो कि अभी तक खोज निकाले गये हैं, नहीं आया है। फिर भी, वह प्रशस्ति चूंकि हेमचन्द्र के एक शिष्य की ही लिखी हुई है, इसलिए उसकी बात पर भरोसा करना चाहिए। प्रभावकचरित्र २२, ६७६ में शत्रुञ्जय पर मन्दिर की प्रतिष्ठा वि. सं. १२१३ में कराये जाने की बात कही गयी है और प्रबन्धचिन्तामणि में पृ. २१९ पर यह वि. सं. १२११ कहा गया है। कुमारपालचरित्र पृ. १८४ में प्रबन्धचिन्तामणि का संवत् ही समर्थन करता है :

कुमारपालचरित्र पृ. १८५ में आम्रभट्ट द्वारा भड़ोच में मन्दिर की प्रतिष्ठा कराने की तिथि दी है।

६८. मोहपराजय में **श्रीश्वेताम्बरहेमचन्द्रवचसाम्** आदि श्लोक आता है। उसका जो उद्धरण कीलहार्न १८८०–८१ के प्रतिवेदन में दिया है, वह कुमारपालचरित्र के पृ. १६१ की पक्ति १४ से प्रारम्भ होकर पृ. १७७ की पंक्ति १ में समाप्त होता है। प्रस्तुत उल्लेख पृ. १६७ पंक्ति १७ आदि में है जो इस प्रकार पढ़ा जाता है।

अथ संप्राप्ते शुभलग्ने निर्मलभाववारिभिः कृतमङ्गलमज्जनः सत्कीर्तिचन्दनाविलिप्तदेहः [हो] नेकाभिग्रहोल्लसद्भूपणालंकृतः [तो] दानकंकणरोचिष्णुदक्षिणपाणिः संवेगरंगङ्ग[गग]जातिरूढः सदाचारच्छत्त्रोपशोभितः श्रद्धासहोदरया क्रियमाणलवणोत्तरणविधिः १२ शतकोटिव्रतभंगसुभगजन्यलोकपरिवृतः श्रीदेवगुरुभक्तिदेशविरतिजानिनीभि [ि] र्गीयमानधवलमगलः क्रमेण प्राप्तः पौषधागारद्वारतोरणे पञ्चविधस्वाध्यायवाद्यमानातोद्यध्वनिरूपे प्रसर्पति विरातेश्वश्रवा कृतप्रेखणाचारः शमदमादिशा[श्या]लकदर्शितसरणिर्मातृगृहमध्यस्थितायाः शीलधवलचीवरध्यानद्वयकुण्डन[ल]रदूर्हरे [ि] तपोभेदमुद्रिकाद्यलकृतायाः कृपसुन्दर्याः स. १२१६ मार्ग सु०. २ दिने पाणि जग्राह श्रीकुमारपालः। श्रीमदर्हद्दे [दे]वतासमक्षं ततः श्र्यागमोक्तश्राद्धगुणगुणितद्वादशव्रतकलशावलि विचारचारुतोरणां नवतत्त्वनवाङ्गवेदीं कृत्वा प्रबोधाग्निमुदाप्य[मुद्दीप्य] भावनासर्पिस्तर्पितं श्रीहेमचार्यो भूदेवः सवधूकं नृपं पृ [प्र] दक्षण [क्षिण] यामास॥

६९. इस प्रति का वर्णन पिटरसन, तृतीय प्रतिवेदन, परि.१ पृष्ठ. ६७ में दिया है। यह लेख प्रतापसिंह 'महामाण्डलिक' द्वारा किए गए भूमि के दान सम्बन्धी है कि जो नाड्‌ल-नाडोल के पार्श्वनाथ के मन्दिर में सुरक्षित है। सन् १८७३ ई में जो मैं ने इसकी प्रतिलिपि उतारी थी, उसके अनुसार उसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

॥ॐ॥ संवत १२१३ वर्षे माघे वदि १० शुक्रे ॥ श्रीमदणहिलपाटके समस्त-राजावलिसमलंकृतपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वर-उमापतिवरलब्धप्रशादप्रौढप्रतापनिजभुजविक्रमरणांगणविनिर्जितशाकम्भरीभूपालश्रीकुमारपालदेवकल्याणविजयराज्ये। तत्पादोपजीविनि महामात्यश्रीचाहडदेवे श्रीश्रीकरणादौ सककमुद्राव्यापारान् परिपन्थयति·········

यह लेख जैनों के किए गए दान के सम्बन्धी है। अतः इसमें कुमारपाल के धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी वर्णन की भी आशा अवश्य ही की जा सकती थी यदि वह इस काल के पहले ही हो गया होता। इस लेख की डा० श्राम [Schram] की गणना के अनुसार यथार्थ तिथि है २० जनवरी, ११५६ ई० शुक्रवार।

६९. अ. अलंकारचूडामणि सूत्रों में लिखा गया है और उसपर स्पष्ट और ब्योरेवार टीका भी लिखी गयी है, जिसमें नियमों को अनेक उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। इस ग्रन्थ के आठ अध्याय है जिनका विषय इस प्रकार है :—

१. मंगल, काव्यका हेतु, कवि के गुण, काव्य के लक्षण, शब्द की तीन शक्तियां। पृ० १-४८।

२. रसों का सिद्धान्त, पृ० ४९-९६।

३. काव्य कृतियों के स्खलन, पृ० ९७-१६९।

४. काव्य कृतियों के लाभ, पृ० १६९-१७४।

५. शब्दालकार, पृ० १७५-२००।

६. अर्थालंकार, पृ० २०१-२५०।

७. काव्यों में चर्चा योग्य पात्र, पृ० २५१-२७९।

८. काव्य कृतियों के भेद, पृ० २८०-२९१।

जिस प्रति का मैंने उपयोग किया था, वह है इण्डिया आफिस पुस्तकालय का सं० १११ [संस्कृत-हस्तलेख—बूहलर]। कितनी ही प्राचीन प्रतियों से तुलना कर के शास्त्री वामनाचार्य झलकीकर द्वारा इसका पाठ निश्चित किया हुआ है।

७०. देखो वागभट्टालंकार, बरुआ द्वारा सम्पादित, ४–४५, ७६, ८१, ८५, १२५, १२९, १३२ और १५२।

पांचवें और आठवें अंशों में बरबरक अथवा बर्बरक पर प्राप्त जयसिंह की विजयों का उल्लेख है। इनका द्व्याश्रयकाव्य और चौलुक्य-लेखों में भी वर्णन है।

७१. छंदोनुशासन अथवा छन्दश्चूडामणि की बर्लिन की प्रति के लिए देखिये व्येबर का कैटलॉग, भाग २, खण्ड १, पृ० २६८। उसके वर्णन में इतनी वृद्धि मैं करूँगा कि पत्र १७, २९–३१, ३६-४० में बायीं ओर पत्रों की संख्या देने के अतिरिक्त प्राचीन अदरपल्ली की निशानियां भी दी हुई हैं। इस छोटे से ग्रन्थ पर टीका बड़ी विशद और विस्तीर्ण है। जैसलमेर की हस्तलिखित प्रति के अन्त में लिखे ब्यौरे (पुष्पिका) के अनुसार उसमें ४११० गाथाएँ हैं। मेरे पास इस ग्रन्थ के लेखन के समय कोई प्रति नहीं थी। जो कुछ मैंने यहाँ लिखा है, वह मेरे अनुबन्धों [नोट्‌स] के आधार पर है।

७२. अलंकारचूडामणि, ३, २ में मूल का खुलासा इस प्रकार किया है:—

हतवृत्तत्व। एतदपवादस्तु स्वच्छन्दोनुशासनेऽस्माभिर्निरूपित इति नेह प्रतन्यते।

७३. शेषाख्या नाममाला अभिधानचिन्तामणि के बोथलिंक व रियो [Bo·htlink & Rieu] के संस्करण में फिर से मुद्रित कर दी गई है। बर्लिन प्रति के सम्बन्ध में देखो—व्येबर का कैटॅलॉग भाग २ खण्ड १ पृ० २५८ आदि। प्राचीन ग्रन्थ यादवप्रकाश की वैजयन्ती से यह ग्रन्थ बहुत सीमा अंश तक मिलता हुआ है और उससे कितने ही प्रयोगवाच्य शब्द ले लिये गये हैं।

७४. प्रभावकचरित्र के अन्त में हेमचन्द्र की कृतियों की सूची में निर्घण्ट नाम से निघण्टु का भी उल्लेख किया गया है। वहां हम पढ़ते हैं, २२, ८३६–८४० में—

व्याकरण [णं] पंचांगं प्रमाणशास्त्र [स्त्रं] प्रमाणमीमांसा: [साम्]।
छन्दोलंकृतिचूडामणी च शास्त्रे विभुर्व्यधित्त: [धित:] ॥ ८३६ ॥
एकार्थानेकार्था देश्या निघंण्ट इति च चत्वार: ।
विहिताश्च ता[ना]मकोशाः शुचिकवितानद्युपाध्यायाः ॥ ८३७ ॥
त्र्यु [ड्यु] त्तरषष्टिशलाकानरेतिवृत्तं गृहिव्रतविचारे ।
अध्यात्मयोगशास्त्रं विदधे जगदुपकृतिविधित्सुः ॥ ८३८ ॥
लक्षणसाहित्यगुणं विदधे च द्व्याश्रय [यं] महाकाव्यम् ।
चक्रे विंशतिमुच्चैः स वीतरागस्तवानां च ॥ ८३९ ॥
इति तद्विहितग्रन्थसंख्यैव न हि विद्यते ।
नामानि न विदन्त्येष्वथा [षां] मादृशा मन्दमेधसः ॥ ८४० ॥

इसके प्राप्त अंशों के लिये देखो संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज पर मेरा प्रतिवेदन १८७४–१८७५ पृ० ६ आदि और एल्फिंस्टन संग्रह १८६६–१८६८ की सूची में कोश विभाग के अन्तर्गत। डेकन कालेज संग्रह १८७५–१८७७ सं० ७३५ में निघण्टुशेष, ध्यानकाण्ड की एक प्रति है।

७५. जिनमें कुमारपाल का नाम आता है, वे श्लोक पिशेल के संस्करण [बंबई संस्कृत ग्रन्थमाला सं० १७] भाग १ के ९७, १०७, ११६, १२७; भाग २ के ३९, ९०; भाग ३ के ४६; भाग ४ के १६; भाग ६ के १०, १९, २६; भाग ७ के ७, १३, ४०, ५३ हैं। जिन श्लोकों में चुलुक्क या चलुक्क नाम आया है, वे हैं १ के ६८, ८४; २ का ३०; ६ के ५, ७, १५, १७, १११; और ८ का ५१। यह भी कह देना चाहिए कि जयसिंह सिद्धराज का नाम २ के श्लोक ४ में ही एक बार आया है और बर्बरक पर उसकी विजय का उल्लेख किया गया है।

४ का श्लोक ३२ भी कदाचित् इसी राजा का उल्लेख करता है :—अहो स्वर्ग के पार्थिव वृक्ष। तू जिसकी कि सुदृढ़ बाहु वृक्ष के समान है, पैठन के घरों की गटरें अर्थात् नालियां तेरे हाथियों की शक्तियों के सत्व से भर गई हैं।

कुछ ही दिन पूर्व भण्डारकर ने एक ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थ के अंश खोज निकाले हैं कि जिसमें जयसिंह द्वारा प्रतिष्ठान (पैठन) की विजय का वर्णन है, देखो–१८८३–८४ की संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का प्रतिवेदन

पृ० १० । यह भी सम्भव है कि "स्वर्ग के पार्थिव वृक्ष" के व्याज से हाल–सातवाहन का उल्लेख किया गया हो क्योंकि उसका नाम देशीनाममाला में एक दूसरी रीति से भी उल्लिखित हुआ है ।

७६. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २२५–२२६ में कहा गया है कि कुमारपाल ने 'उपमा' अथवा 'औपम्य' के स्थान में जब 'औपम्या' प्रयोग किया, तो वह भाषा-दोष का दोषी था । फिर यह भी कहा जाता है कि उसने किसी पण्डित या अन्य द्वारा 'मातृका पाठ' से प्रारम्भ करते हुए शास्त्रों का अध्ययन किया था । उसने एक ही वर्ष में तीन काव्य और उनकी टीकाएँ तैयार कर दीं और इस प्रकार 'विचारचतुर्मुख' की उपाधि प्राप्त की । कुमारपालचरित्र, पृ० १०५ में भी यही कथा मिलती है जिसमें गुरु रूप से हेमचन्द्र का उल्लेख भी किया गया है ।

७७. हेमचन्द्र के समय के पूर्व अनहिलवाड़ में जैनधर्म का कितना महत्व था, इसका एक रुचिर प्रमाण **कर्णसुन्दरी** नामक नाटक की खोज से मिलता है, जिसे बंबई काव्यमाला के अन्तर्गत पण्डित दुर्गाप्रसाद ने अभी ही प्रकाशित कराया है । यह नाटक सुप्रसिद्ध कवि बिल्हण का लिखा हुआ है और शांतिनाथ के मंदिर में नामेय महोत्सव के अवसर पर खेला जाने वाला था । यह महोत्सव अमात्य सम्पतकर [सान्तु ?] की ओर से मनाया जा रहा था । नागानंद के मंगलाचरण का अनुकरण करते हुए, नांदी से पहला ही श्लोक जिन की स्तुति रूप कहलाया गया है । पहले अङ्क के श्लोक १० में कवि के कथनानुसार, इस नाटक का मुख्य पात्र भीमदेव का पुत्र राजा कर्ण है, जिसने वि. स. ११२० से ११५० तक राज किया था । अनहिलवाड़ के राज-दरबार में जैनों के प्रभाव का दूसरा प्रमाण पुराने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में पाया जाता है जहां पहले के चौलुक्य राजाओं के नीचे अनेक जैनों के ऊंचे राज्याधिकारियों के रूप में और विशेषरूप से अर्थ-सचिवों के रूप में काम करने का वर्णन है ।

७८. यह कथा कुमारपालचरित्र, पृ० १३७ आदि में दी गयी है, जो इस प्रकार है : जब कुमारपाल जैनधर्म की ओर आकर्षित होता हुआ प्रतीत होने लगा, तो ब्राह्मणों ने राजाचार्य देवबोधि को बुलाया । यह बड़ा योगी था, जिसने भारती देवी को अपने वश में कर लिया था । उसे जादू मन्त्र भी आता था और वह भूत भविष्य भी जानता था । जब राजा ने यह सुना कि देवबोधि

अनहिलवाड़ की सीमा तक पहुँच गया है, तो राजा ने देवबोधि का बड़े समारोह के साथ स्वागत किया और राज महल में ले गया। सारा दिन स्वागत की भिन्न भिन्न क्रियाओं में ही बीत गया। तीसरे पहर राजा ने शांतिनाथ की एक छबि की समस्त दरबारियों के सामने पूजा अर्चना की। तब देवबोधि ने राजा को जैन धर्म से विमुख करने के लिए निंदा-भर्त्सना की। जब कुमारपाल ने अहिंसा के सिद्धान्त के लिए जैनों की प्रशंसा की और हिंसा के लिए श्रौत धर्म को दोषी ठहराया तो देवबोधि ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव, एवम् मूलराज से लेकर उसके उत्तराधिकारी सात चौलुक्यों का साक्षात् आह्वान किया और उन सब ने वैदिक धर्म की प्रशंसा में राजा को बहुत कुछ कहा। परन्तु, दूसरे प्रातःकाल ही हेमचन्द्र ने देवबोधि से भी अधिक आश्चर्यकारी चमत्कार राजा को कर दिखाया। पहले तो उन्होंने अपना आसन अपने नीचे से खींच कर बाहर निकलवाया और आप अधर अन्तरिक्ष में ज्यों के त्यों स्थिर बैठे रहे। फिर उन्होंने न केवल सभी जैन सिद्धों को राजा के समक्ष बुला कर खड़ा कर दिया, वरन राजा के पूर्व पुरुषों को भी जैन धर्म के जिनों को पूजाते हुए दिखाया। अन्त में उन्होंने स्पष्ट किया कि यह सब इन्द्रजाल है और देवबोधि ने भी इसी का प्रयोग किया है। सत्य तो वही है, जो राजा को देवपट्टन के मन्दिर में सोमनाथ भगवान ने कहा था। इससे हेमचन्द्र की विजय हो गई। देवबोधि, जो कि सम्भवतया ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, के लिए देखो अध्याय ६।

७९. मेरुतुंग का वर्णन पीछे पृष्ठ ३९ और टिप्पणी ६१ में दिया जा चुका है। वह भूल से कहता है कि त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र योगशास्त्र के पहले लिखा गया था। इसी बात को जिनमण्डन ने भी पुष्टि कर दिया है। प्रभावकचरित्र, २२,७७५ आदि और ८९९ आदि में इन दोनों ही कृतियों का रचनाकाल बहुत बाद का दिया है, फिर भी वहां योगशास्त्र की रचना पहले हुई थी, ऐसा कहा गया है।

८०. योगशास्त्र के पहले से चार प्रकाशों का परिचय ई० विण्डीश (E. Windisch) के संस्करण और Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft (जर्मन ओरियंटल सोसाइटी पत्रिका) भाग २८ के पृ. १८५ आदि में प्रकाशित अनुवाद से मुझे हुआ था।

अन्तिम आठ प्रकाशों जो कि बहुत ही थोड़ी इस प्रतियों में सुरक्षित मिले हैं, का विषय इस प्रकार है :—

प्रकाश ५ वां २७३ श्लोकों का है। इसमें योग की कुछ प्रक्रियाओं का उनके परिणामों सहित विवेचन है जो पतञ्जलि की टीका आदि अनेक ग्रन्थों के अनुसार लोगों द्वारा सिखाई जाती हैं। ये हैं (१) प्राणायाम—याने शरीर की वायु और मन दोनों पर अंकुश रखने की प्रकियायें श्लोक १ से २५ तक बताई गई हैं। (२) श्लोक २६ से ३५ में धारणा याने शरीर के किसी भाग में इच्छानुसार वायु ले जाने और फिर वहां से निकालने की प्रक्रिया का वर्णन है। (३) श्लोक ३६ से १२० में शरीर में वायु के संचलन का निरीक्षण है जिसके द्वारा जीवन-मरण सम्बन्धी भविष्य और दुर्भाग्य सौभाग्य कहा जा सकता है। (४) श्लोक १२१ से २२४ तक ध्यान और दिव्य कथन (Divination) का वर्णन है और इसी में मृत्यु निर्णय की अन्य रीतियों पर प्रकाश डाला गया है। (५) श्लोक २२५ से २५१ तक जय-पराजय, सफलता-विफलता आदि निर्णय करने की बातों की चर्चा है। (६) श्लोक २५२ से २६३ तक नाड़ी शुद्धि करण, शिराएं शुद्धिकरण जिनके द्वारा वायु संचरण करता है का विचार किया गया है। (७) शेष श्लोक २६४ से २७३ में वेधविधि और पर पुरप्रवेश अर्थात् शरीर से आत्मा को पृथक् करने और अन्य शरीर में उसे प्रविष्ट कराने की कथा की चर्चा है।

प्रकाश ६ के ७ श्लोक हैं। इनमें मोक्षप्राप्ति के लिए परपुर प्रवेश और प्राणायाम की निष्फलता का प्रतिपादन है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कई प्रत्याहार की शिक्षा देते हैं। वह उपयोगी कहा गया है। इसी प्रकाश में ध्यान के लिए उपयोगी अंग उपांगों की चर्चा है।

प्रकाश ७ के २८ श्लोक हैं। इनमें पिंडस्थ ध्यान और उसके पांच विभाग—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी, और तत्रभू जिनको समवेत रूप में धारण कहा जाता है, का निरूपण किया गया है। विशेष परिचय के लिए देखिए-भाण्डारकर, १८८३-८४ का प्रतिवेदन, पृ. ११०-१११।

प्रकाश ८ के ७८ श्लोक हैं। इसमें पदस्थ ध्यान अर्थात् ऐसे पवित्र शब्दों अथवा वाक्यों का ध्यान जिन्हें ध्याता कमलदल पर लिखे मानकर ध्यान करता है। देखिए—भाण्डारकर, वही पृ. १११।

प्रकाश ९ केवल १५ श्लोकों का है। इनसे रूपस्थ ध्यान अर्थात् अर्हन् के रूपआकार पर ध्यान करने का निरूपण है। देखिये—भाण्डारकर, वही पृ० ११२।

प्रकाश १० के २४ श्लोक हैं और इसमें (१) रूपातीत ध्यान याने निराकार परमात्माके ध्यान जो कि मात्र ज्ञान एवं आनन्दमय यौनि मुक्तात्मा है। और जिसके साथ एक रूप होने एवं स्वयम् को वैसा बना लेने का प्रयत्न किया जाता है, का निरूपण है, और (२) ध्यान को अन्य रीतियाँ याने आज्ञा, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान ऐसे चार प्रकार के ध्यानों का निरूपण है।

प्रकाश ११ के श्लोक ६१ है और इनमें शुक्ल ध्यान का निरूपण है। देखिए—भाण्डारकार वही पृ० ११०।

प्रकाश १२ के श्लोक ५५ हैं और इनमें आचार्य ने अपने स्वानुभव पर आधारित उन गुणों का निरूपण किया है जो योगी में होना ही चाहिए और तभी वह मुक्ति-मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकता है। इस तरह आचार्य ने योगशास्त्र का उपसंहार किया है।

इस संक्षिप्त विवरण से यह सहज ही समझ में आ सकेगा कि क्यों यह अंश जिसके कारण इसका नाम सार्थक होता है। अधिकांश लिपिकारों द्वारा नकल नहीं किया गया, जब कि प्रारम्भ के चार प्रकाशों की प्रतियां इसलिए अधिकतम उपलब्ध होती है क्योंकि आज भी इनका उपयोग गृहस्थों को श्रावक धर्म की समझ देने वाली पाठ्यपुस्तक के रूप में किया जाता है

हेमचन्द्र ने **योगशास्त्र** ग्रन्थ एवं वीतरागस्तोत्र दोनों की समाप्ति के पश्चात् ही योगशास्त्र की वृत्ति लिखी थी। प्रबन्धों के अनुसार **वीतराग स्तोत्र** भी **योगशास्त्र** का ही विभाग है (दे० टिप्पण ८१) क्योंकि उस स्तोत्र के श्लोक **योगशास्त्र** में बहुधा उद्धृत किये गये हैं जैसे कि प्रकाश २ का ७ वां श्लोक, ३ का १२३ वां श्लोक, और ४ का १०३वा श्लोक है। फिर प्रकाश १ के चतुर्थ श्लोक की टीका में योगशास्त्र का अंतिम श्लोक उद्धृत किया गया है।

प्रथम के चार प्रकाशों की व्याख्या असाधारण रूप से विवरणात्मक है। मूल के शब्द अनेक उद्धरणों द्वारा समझाये गये हैं और जिन कथाओं और आख्यानों का मूल में नाम मात्र से उल्लेख किया गया है, उन्हें टीका में विस्तार

से कह दिया गया है। यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि स्थूलभद्र की जो कथा ३, १३१ में दी गयी है, वह उन्हीं शब्दों में परिशिष्टपर्व ८,२–१९३ और ९, ५५–१११ ए में दे दी गयी है, परन्तु यह संकेत तक नहीं किया गया है कि परिशिष्ट पर्व भी अस्तित्व में है। हेमचन्द्र की ही कृतियों में व्याकरण से, धातुपाठ से, अभिधानचिन्तामणि से, लिंगानुशासन से और वीत-रागस्तोत्र से उद्धरण 'यद् अवोचाम' अथवा 'यद् उक्तम् अस्माभिः' कह कर दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, कठिन विषयों पर टीका में ग्रन्थकार के विशेष व्याख्याएँ भी दी हैं और ऐसा करते हुए 'अत्रान्तरे श्लोकाः' द्वारा निर्देश किया है। चौथे प्रकाश की टीका के अन्त में एक श्लोक दिया है, जिससे यह संकेत मिल जाता है कि महत्व का प्रथम विभाग यहाँ सम्पूर्ण हो गया है :—

> इति निगदितमेतत्साधनं ध्यानसिद्धे–
> र्यतिगृहिगतभेदादेव रत्नत्रयं च।
> सकलमपि यदन्यद् ध्यानभेदादि सम्यक्
> प्रकटितमुपरिष्टादष्टभिस्तत् प्रकाशैः॥

बारहवें प्रकाश का अन्तिम ५५वा श्लोक इस प्रकार है :—

> या शास्त्रात्सुगुरोर्मुखादनुभवाच्चाज्ञायि किंचित् क्वचिद्
> योगस्योपनिषद् विवेकपरिषच्चेतश्चमत्कारिणी।
> श्रीचौलुक्यकुमारपालनृपतेरत्यर्थमभ्यर्थनाद्
> आचार्येण निवेशिता पथि गिरां श्रीहेमचन्द्रेण सा॥ ५५॥

या योगस्योपनिषद्रहस्यमज्ञायि ज्ञाता। कुतः ? शास्त्राद् द्वादशांगात्। सुगुरोः सदागमव्याख्यातुर्मुखात् साक्षादुपदेशात्। अनुभवाच्च स्वसंवेदनरूपात्। किंचित् क्वचिदिति स्वप्नज्ञानानुसारेण। क्वचिदित्येकत्र सर्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्प्रदेशभेदे क्वचन। उपनिषदं विशिनष्टि। विवेकिनां योगरुचीनां या परिषत्सभा तस्या यच्चेतस्तच्चमत्कारोतीत्येवंशीला सा योगोपनिषत्। श्रीचौलुक्यो यः कुमारपालनृपतिस्तस्यात्यर्थमभ्यर्थनया। स हि योगोपासनप्रियो दृष्टयोगशास्त्रान्तरश्च······भ्यो योगशास्त्रेभ्यो नि··· णं योगशास्त्रं शुश्रूषमाणः······सर्वनरो वचनस्य······गिरां पथि निवेशि[तवा]न् आचार्यो हेमचन्द्र इति शुभम्॥

> श्रीचौलुक्यक्षितिपतिकृतप्रार्थनाप्रेरितोऽहं
> स[त]त्त्वज्ञानामृतजलनिधेर्योगशास्त्रस्य वृत्तिम्।

स्वोपज्ञस्य ब्यचरयमि[मां तावद्] एषा च नन्द्याद्
यावज्जैनप्रोवचनवती भूर्भुवः स्व[स्त्र]यीयम् ॥ १ ॥
संप्रापि योगशास्त्रात्तद्विवृतेश्चापि यन्मया सुकृतम् ।
तेन जिनबोधिलाभप्रणयी भव्यो जनो भवतात् ॥ २ ॥

इसके बाद सुख्यात पुष्पिका (Colophon) है। वियेना विश्वविद्यालय की जो प्रति मेरे सामने है, उसमें १६७ पन्ने और प्रत्येक पन्ने में १९ पंक्तियां हैं। दुर्भाग्य से अन्तिम पन्ने को उपयोग से बहुत ही हानि उठानी पड़ी है और वह पूर्णरूप से पढ़ा नहीं जा सकता। तिथि लिखनी रह गई है। फिर भी इसकी पुरानी लिपि को देखते हुए ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि प्रति लगभग ३००-४०० वर्ष की प्राचीन है। प्रत्येक प्रकाश के ग्रन्थाक इस प्रकार हैं :–

प्रकाश १ ला	२०००	प्रकाश २ रा	३५००	प्रकाश ३ रा	३९००
प्रकाश ४ था	२३००	प्रकाश ५ वां	६४०	प्रकाश ६ ठा	१८
प्रकाश ७ वां	३९	प्रकाश ८ वां	१४९	प्रकाश ९ वा	२१
प्रकाश १० वां	८४	प्रकाश ११वां	२१०	प्रकाश १२वा	अपठनीय

यह भी कहा गया है कि अन्तिम आठ प्रकाशों की ग्रन्थ संख्या मिलाकर १५०० है और सम्पूर्ण की १२, ००० है जो यथार्थ नहीं प्रतीत होती। इसकी प्राचीनतम प्रतियों का वर्णन डा० पिटरसन के पहले प्रतिवेदन, परि, २२, ५७ और तीसरे प्रतिवेदन, परि, १४, १५, ७४, ११४३, १७६ में है। पुराने से पुराने प्रति, तीसरे, प्रतिवेदन, पृ० ७४ बाद्य वि. सं. १२५१ का है और इस लिए वह हेमचन्द्र की मृत्यु के २२ वर्ष बाद का ही लिखा हुआ है।

८१. उस प्रति के अनुसार, जो कि मुझे बबई से अभी ही भेजी गई है, वीतराग स्तोत्र में बीस छोटे-छोटे खण्ड हैं और उन सब को ही स्तव या प्रकाश नाम दिया गया है।

(१) प्रस्तावनास्तवः, ८ श्लोक, पहला श्लोक है :—

यः परात्मा परं ज्योतिः परमः परमेष्ठिनाम् ।
आदित्यवर्णं तमसः पुरस्तादामनन्ति यम् ॥ १ ॥

(२) सहजातिशयस्तवः, ९ श्लोक, पहला श्लोक है :—

श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद वीतरागस्तवादितः ।
कुमारपालभूपालः प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥ १ ॥

(३) कर्मक्षयजातिस्तवः,	१५ श्लोक ।
(४) सुरकृतातिशयस्तवः,	१४ श्लोक ।
(५) प्रतिहार्यस्तवः,	९ श्लोक ।
(६) प्रतिपक्षनिरासस्तवः,	१२ श्लोक ।
(७) जगत्कर्तृनिरासस्तवः,	८ श्लोक ।
(८) एकान्तनिरासस्तवः,	१२ श्लोक ।
(९) कलिस्तवः,	८ श्लोक ।
(१०) अद्भुतस्तवः,	८ श्लोक ।
(११) महितस्तवः,	८ श्लोक ।
(१२) वैराग्यस्तवः,	८ श्लोक ।
(१३) हेतुनिरासस्तवः,	८ श्लोक ।
(१४) योगसिद्धिस्तवः,	८ श्लोक ।
(१५) भक्तिस्तवः,	८ श्लोक ।
(१६) आत्मगर्हास्तवः,	९ श्लोक ।
(१७) शरणगमनस्तवः,	८ श्लोक ।
(१८) कठोरोक्तिस्तवः,	१० श्लोक ।
(१९) आज्ञास्तवः,	८ श्लोक ।
(२०) आशीस्तवः,	८ श्लोक ।

अन्तिम श्लोक इस प्रकार है :—

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि सेवकोऽस्म्यस्मि किंकरः ।
ओमिति प्रतिपद्यस्व नाथ नातः परं ब्रुवे ॥ ८ ॥

जैन तत्व ज्ञान का काव्यमय संक्षिप्त वर्णन इस स्तोत्र में किया गया है। कदाचित् कुमारपाल को जैन धर्म के सिद्धान्तों से परिचित कराने का हेमचन्द्र द्वारा किया गया यह पहला ही प्रयत्न हो ऐसा लगता है ।

८१. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग ४, पृ० २६८–२६९ ।

८३. यूकाविहार की कथा प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २३२ में दी गयी है और लक्ष को दिया गया दण्ड प्रभावकचरित्र २२, ८२३–८३० में वर्णित है। नड्डूल का कल्हण एक ऐतिहासिक व्यक्ति है और उसका वि० सं० १२१८ के एक शिलालेख में उल्लेख हुआ है, देखो अध्याय ५। अमारी की घोषणा का सभी प्रबन्ध ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। प्रभावकचरित्रं २२, ६९१ में हम पढ़ते हैं कि इस घोषणा को सारे राज्य में ढोंडी पिटवा दी गई थी। प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २११, २४३ में कहा गया है कि यह घोषणा १४ वर्ष की सीमित अवधि के लिए ही निकाली गयी थी। कुमारपालचरित्र में इसका पृ० १४४ की पंक्ति १६ में और पृ० १५२ आदि मे वर्णन है और बहुत सा विवरण दिया गया है, जो कि द्वयाश्रय और प्रबन्धचिन्तामणि के वर्णन को दोहरा देता है और विस्तीर्ण कर देता है।

८४. प्रभावकचरित्र, २२, ६९०–६९१ ; कुमारपालचरित्र, पृ० १५४।

८५. प्रभावकचरित्र २२, ६९२–७०२ ; प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २१६–२१७; कुमारपालचरित्र, पृ० २०५, जहां एक कथानक वर्णित है:, कीर्तिकौमुदी २, ४३–४४। प्रभावकचरित के श्लोक ६९३ में स्पष्ट ही कहा है कि व्यवहारिन् की सम्पत्ति ही यदि वह पुत्रहीन मर जाता था अपहरण की जाती थी। अभिज्ञान शाकुन्तल का इस सन्बन्ध का उल्लेख पिशेल के संस्करण के ६ ठे अंक के पृ० १३८–९३९ में है।

८६. प्रभावकचरित्र २२, ६०३–६०९ के अति अंशित (Spoiled) श्लोकों में कुमारविहार का वर्णन है। कुमारविहार के भवन के विषय में दूसरे स्थल पर भी कहा गया है। श्लोक ६८३–६८९ में हम पढ़ते हैं :—

> प्रासादैः सप्तहस्तैश्च यवावर्णो [?] महीपतिः।
> द्वात्रिंशतं विहाराणां सारण्यां निरमापयत् ॥ ६८३ ॥
> द्वौ शुभ्रो द्वौ च···द्वौ रक्तोत्पलवर्णकौ।
> द्वौ नीलौ षोडशाथ स्युः प्रासादाः कनकप्रभाः ॥ ६८४ ॥
> श्रीरोहिणिश्च समवसरणं प्रभुपादुकाः।
> अशोकविटपी चैवं द्वात्रिंशत्स्थापितास्तदा ॥ ६८५ ॥

चतुर्विंशतिचैत्येषु श्रीमन्त ऋषभादयः ।
सीमन्धराद्याश्चत्वारो चतुर्षु निलयेषु व [च] ॥ ६८६ ॥
द्वात्रिंशतः पूरुषाणामनूणास्मातिगर्भितम् [?] ।
व्यजिज्ञपत् प्रभोर्भूप [:] पूर्वबाह्यानुसारतः ॥ ६८० ॥
स पंचविंशतिवातांगुलमानो जिनेश्वरः ।
श्रीमत्तिहुणापालाख्ये पंचविंशतिहस्तके ॥ ६८८ ॥
विहारेस्थाप्यत श्रीमान् नेमिनाथोपरैरपि ।
समस्तदेशस्थानेषु जैनचैत्यान्यचीकरत् ॥ ६८६ ॥

बत्तीस दांतों के पापों के प्रायश्चित्त रूप से हेमचन्द्र की जिस सम्मति के अनुरूप कुमारपाल बत्तीस जिन मंदिर बनवाने वाला था, वह प्रभावकचरित्र के श्लोक ७०१ में वर्णित है। श्लोक ७२२-७२६ में शत्रुंजय के उस मंदिर का वर्णन है, जो २४ हाथ ऊँचा था और जिसके बारे में प्रबन्धकार यह भी कहता है कि, आज भी देखने में आता है। चौथा अंश श्लोक ८०७—८२१ का इस प्रकार है :—

एवं कृतार्थयन्_जन्म सप्रक्षेप्या धनं वपन् ।
चक्रे सम्प्रतिवज्जैनभवनैर्मण्डितां महीम् ॥ ८०७ ॥
श्रीशलाकानृणां वृत्तं स्वोपज्ञम्प्रभवोन्यदा ।
व्याचख्युर्नृपतेर्धर्मस्थिरीकरणहेतवे ॥ ८०८ ॥
श्रीमहावीरवृत्तं च व्याख्यात [न्तः] सूरयोन्यदा ।
देवाधिदेवसंबंधं [बन्धं] व्याचख्युर्भूपतेः पुरः ॥ ८०६ ॥
यथा प्रभावती देवी भूपालोदयनप्रिया ।
श्रीवेठकावनीपालपुत्री तस्या यथा पुरा ॥ ८१० ॥
वारिधौ चत [व्यन्त] रः कश्चिद्यानपात्रं महालयम् ।
स्तम्भयित्वार्पयत् [च] प्राह्वस्यार्धं [च] संपुटं दृढम् ॥ ८११ ॥
एनं देवाधिदेवं य उपलक्षयिता प्रभुम् ।
स प्रकाशयितान्य [?] इत्युक्त्वासौ तिरोदधे ॥ ८१२ ॥
पुरे वीतभये यानपात्रे संघटिते यथा ।
अन्यैर्नोद्घाटितं देव्या वीराख्यायाः[ख्यया]प्रकाशितः[तम् ?]॥८१३॥
यथा प्रद्योतराजस्य हस्तं सा प्रतिमा गता ।

दास्या तत्प्रतिबिम्बं च मुक्तं पश्चात्पुरे यथा ।। ८१४ ।।
ग्रन्थगौरवभीत्या च ता [न] तथा वर्णिता कथा ।
श्रीवीरचरिताद्द्रो [ज्ञे] या तस्या कृतिसकौतुकैः ।। ८१५ ।।
षड्भिः कुलकम् ।।
तां श्रुत्वा भूपतिः कल्पहस्त्नात्रिपुणभिरधौ [?] ।
प्रेष्य वीतभये स्न [शू] न्येवी [ची] खनत्तद् भुवं क्षणात् ।। ८१६ ।।
राजमन्दिरमालोक्य भुवोमुन [मोन्त] स्तेतिहर्षिताः ।
देवतावसरस्थानं प्रापुबिम्बं तथार्हतः ।। ८१७ ।।
आनीतं च विभो राजधानीमतिशयोत्सवैः ।
स प्रवेश [शं] दधे तस्य सौधदैवतवेश्मनि ।। ८१८ ।।
प्रासादः स्फाटिकस्तत्र तद्योग्यः पृथिवीभृता ।
प्रारेभेथ निषिद्धश्च प्रभुभिर्मोविवेदिभिः ।। ८१६ ।।
राजप्रासादमध्ये च न हि देवगु [गृ] हं भवेत् ।
इत्थगान्या [माज्ञा] मनुल्लंघ्य न्यवर्तत ततो नृपः ।। ८२० ।।
एकातपत्रतां जैनशासनस्य प्रकाशयत् [न्] ।
मिथ्यात्वशैलवज्रं श्रीहेमचन्द्रप्रभुर्बभौ ।। ८२१ ।।

यही कथा कुमारपालचरित्र पृ० २६४ आदि में वर्णित है।

८७. प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २१६, २१९, २३१, २३२, २३८। अपने पूर्ववर्तियों की बात को ही जिनमण्डन दोहरा देता है और हमें कुछ भी नई बात नहीं बताता, सिवा इसके कि पृ० २८२ में वह कुमारपाल द्वारा कराये गये जीर्णोद्धारों की संख्या १६,००० तक पहुँचा देता है।

८८. कल्पचूर्णी की एक प्रति के अन्तिम भाग में प्रतिलेखन के समाप्त करने के लिए मंत्री यशोधवल के नाम का उल्लेख कर दिया गया है, देखो कील्हार्न का प्रतिवेदन, परि० पृ० ११। सोमेश्वर प्रशस्ति में [कीर्तिकौमुदी परि० ए० पृ० ५ और १४ श्लोक ३५] चन्द्रावती और अचलगढ़ के परमार राजा यशोधवल के विषय में कहता है कि वह मालवा के विरुद्ध कुमारपाल का साथी होकर लड़ा था और उसने राजा बल्लाल को मार दिया था। प्रभावक चरित्र कहता है कि उसके काका विक्रमसिंह के दण्डित किये जाने पर यशोधवल

कुमारपाल द्वारा सिंहासनस्थ किया गया था। सोमेश्वर विक्रमसिंह के विषय में कुछ नहीं कहता, परंतु द्व्याश्रयकाव्य में इसका अवश्य ही उल्लेख है। चन्द्रावती के राजा बहुत शक्तिशाली नहीं थे और चौलुक्यों के १२ वीं और १३वीं शती में मातहत थे। इसलिए यह असंघटनीय नहीं कि यशोधवल कुमारपाल का एक समय प्रधान भी रहा हो। कपर्दीन के विषय में देखो—प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २२६-२३०। प्रबन्धकोशों के अनुसार [पृ. १०२] वह भी परमार राजपूत था।

८९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के परिमाण के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना मेरे लिए कठिन है, क्योंकि मैंने इसके कुछ अंश ही देखे हैं, जैसे कि कलकत्ते में मुद्रित जैनरामायण, बिबलायिका इण्डिका में हरमन याकोबी द्वारा प्रकाशित परिशिष्टपर्वन्, और रायल एशियाटिक सोसाइटी की प्रति जिसमें आठवां पर्व ही है। १८७४-७५ के संग्रह की डेकन कालेज की प्रति सं ४७, जिसमें पर्व १, २ और ४ नहीं हैं, एक और लिखी १५ पंक्तियों वाली ७१५ पत्रों की है। खम्भात के भण्डार में ताड़पत्र पर लिखे प्रथम पर्व [पीटरसन प्रथम प्रतिवेदन पृ० ८७] द्वितीयपर्व [वही पृ. १९], तृतीय पर्व [वही, परि. पृ. ११, तृतीय प्रति. परि. पृ. १२४], सप्तम पर्व [पिटरसन प्रथम प्रति. परि. पृ. २३, तृतीय प्रति. परि. पृ. १४५], अष्टम पर्व [पिटरसन प्र. प्रति. परि. पृ. ३४, तृ. प्र. परि. पृ. १४४], दशम पर्व [पिटरसन प्र. प्र. परि. पृ. ३५], और परिशिष्ट पर्वन् [पिटरसन प्र. प्र. पृ. ३५] की प्रतियां हैं। जिनमण्डन का वर्णन कुमारपालचरित्र के पृ. २३५ पंक्ति १६ में मिलता है और वह बहुत कुछ यथार्थ प्रतीत होता है।

९०. मुझे इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति मिली है [देखो—१८७९-८० के संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का प्रतिवेदन], जो संस्कृत द्व्याश्रय काव्य के मूल का अनुसरण करती है। अन्य प्रतियों के लिए देखो—पिटरसन तृतीय प्रतिवेदन पृ. १९ और कीलहार्न १८८०-८१ का प्रतिवेदन पृ. ७७ सं० ३७४। इसमें टीका सहित ९५० श्लोक हो हैं। उससे उद्धरण जिनमण्डन के कुमारपालचरित्र पृ. १९४ में पाये जाते हैं। इस लघुकृति के इतने ही अंश अब तक मुझे प्राप्त हुए हैं।

९१. देखो बोटलिंक और रियू का अभिधान चिंतामणि उपोद्घात पृ. ७७।

९२. १८७५–७७ के डेकन कालेज संग्रह सं. ७०२ से नकल की हुई मेरी प्रति के अनुसार प्रस्तुत श्लोक इस प्रकार हैं :—

> श्री हेमसूरिशिष्येण श्रीमन्महेन्द्रसूरिणा ।
> भक्तिनिष्ठेन टीकेयं तन्नाम्नैव प्रतिष्ठिता ।। १ ।।
> सम्यग्ज्ञाननिधेर्गुणैरनवधेः श्रीहेमचन्द्रप्रभो-
> र्ग्रन्थे व्याकृतिकौस[श]लं व्यसनि[नां] क्वास्मादृशां तादृशम् ।
> व्याख्याम स्म तथापि तं पुनरिदं नाश्चर्यमन्तर्मनस् ।
> तस्याजस्रं स्थितस्य हि वयं व्याख्यामनुब्रूमहे ।। २ ।।

तुलना करो टा. जकरिया की पुस्तक Beitra gezur indischen lexicographie पृ. ७५ आदि। मैं नहीं समझता कि हेमचन्द्र ने ही टीका का प्रारंभिक अंश लिखा था। जकरिया तो इसे सम्भव मानता है।

९३. मल्लिषेण की टीका सहित इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियां डेकन कालेज संग्रह १८७२–७३ सं. १९५–९६ और १८७३–७४ सं. २८६ और १८८०–८१ सं. ४१३ में हैं। चूंकि मेरे पास कोई भी प्रति इस समय नहीं है, इसलिए मैं इस ग्रंथ के विषय में ब्योरेवार कुछ नहीं कह सकता।

९४. रामचन्द्र के **रघुविलाप** के लिए देखो मेरा १८७४–७५ की संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का प्रतिवेदन। इसकी एक प्रति डेकन कालेज संग्रह १८७५–७७ सं. ७६० में है। **निर्भयभीम** नाटक की पुष्पिका (Colophon) पिटरसन के प्रथम प्रतिवेदन, परिशिष्ट १ पृ. ८० में दिया है। राज्य के उत्तराधिकारी को उस खटपट में जो कि कुमारपाल के राज्यान्त में हो चली थी रामचन्द्र ने अपने को फंसा लिया था और उसने कुमारपाल के भतीजे अजयपाल के विरुद्ध काम किया था। जब अजयपाल अन्त में राजगद्दी पर बैठ गया, तो उसने, मेरुतुंग के कथनानुसार [प्रबन्धचिन्तामणि पृ. २४८] रामचन्द्र को ताम्रपत्र पर जीवित भून कर मार दिया। प्रभावकचरित्र २२, ७४६, प्रबन्धचिन्तामणि पृ. २०६ और २२३ में, और कुमारपालचरित्र पृ. १८८ में यशश्चन्द्र का उल्लेख है और कुमारपालचरित्र पृ. २८३ में बालचन्द्र और गुणचन्द्र का। देखो ऊपर

पृ. ५७। जैसलमेर के बृहद्ज्ञानभंडार में श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र विरचित स्वोपज्ञ द्रव्यालंकारटीका के कुछ अंश पाये गये हैं। तृतीयांकप्रकाश के बाद संवत् १२०२ लिखा हुआ है। मेरुतुंग [प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. २३०] ने उदयचन्द्र के विषय में एक कथा दी है जिसका सम्भवतः आधार कुछ ऐतिहासिक माना जा सकता है। यह कहा गया है कि एक बार वह अपने गुरु के समक्ष राजा को योगशास्त्र पढ़ कर सुना रहा था। जब वह प्रकाश ३ का श्लोक १०५ पढ़ रहा था, तो उसने उसका अन्तिम पद "दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णां ग्रहणमाकरे" कितनी ही बार दोहराया। इसलिए हेमचन्द्र ने उससे पूछा कि क्या प्रति में कुछ भूल हो गयी है ? उसने उत्तर दिया कि व्याकरण के अनुसार पाठ 'त्वग्रोम्णो' होना चाहिए, क्योंकि पशुओं के अवयवों का समुच्चय द्वन्द्व में एकवचनान्त होता है। इस पर गुरु ने उसकी प्रशंसा की। सभी प्रतियों में यह अंश एक-वचन में मिलता है, और टीका में उस व्याकरण का, जिसके अनुसार यह एक-वचन होना चाहिए, हवाला है। अपने गुरु के व्याकरण के उदयचन्द्र के स्पष्टी-करणों के लिए देखिये टिप्पण ३४ पीछे।

९५. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २१६-२१० में और प्रभावकचरित्र, २२,७०१ में पहला श्लोक पाया जाता है और दूसरा प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २२३, और प्रभावकचरित्र, २२, ७६५, में, तीसरा प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २२४ और कुमारपालचरित्र पृ० १८८ में। प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २३८ में दण्डक का उल्लेख है, और मन्त्री कपर्दिन द्वारा रचित श्लोक को पूर्ण करने वाला अर्द्धांश पृ० २२८ में दिया है। राजा कुमारपाल ने जैन धर्म के बारह व्रतों का पालन किस प्रकार किया इसका वर्णन कुमारपालचरित्र के पृ० १८७-२१३ में है।

९६. प्रबन्धकोश, पृ० ९९-१०० :

कुमारपालेनामारी प्रारब्धायामाश्विनशुदिपक्षः समागात्। देवतानां कण्टेश्वरी-प्रमुखानामतो [बो ?]टिकैर्नृपो विज्ञप्तः। देव सप्तम्यां सप्त शतानि पशवः सप्त महिषा अष्टम्यामष्ट महिषा अष्टौशतानि पशवो नवम्यां तु नव शतानि पशवो नव महिषा देवीभ्यो राज्ञा देया भवन्ति पूर्वपुरुषक्रमात्। राजा तदाकर्ण्य श्रीहेमान्तिकमग-मत्। कथिता सा वार्ता। श्रीप्रभुभिः कर्णे एवमेवमित्युक्तम्। राज्ञोत्थितः। भाषितास्ते। देयं दास्याम इत्युक्त्वा बहिकाक्रमेण रात्रौ देवीसदने क्षिप्ताः पशवः

तालकानि दृढीकृतानि । उपवेशितास्तेषु प्रभूता आप्तराजपुत्राः । प्रातरायातो नृपेन्द्रः । उद्घाटितानि देवीसदनद्वाराणि । मध्ये दृष्टाः पशवो रोमन्थायमाना निर्वातशय्यासुस्थाः । भूपालो जगाद । भो अबोटिका एते पशवो मयाभूम्या[भ्यो] दत्ताः । यद्यमूभ्यो रोचि[चि]ष्यन्तैते तदाग्रसिष्यन्त । परं न ग्रस्तास्तस्माना[न्ना] मूभ्यो दे: [देवीभ्यः] पलं रुचितम् । भवद्भ्य एव रुचितम् । तस्मात्तूष्णीमाध्वं ना[हं] जीवान् घातयामि । स्थितास्ते विलक्षाः । मुक्तारछागाः । छागमूल्यसमेन तु धनेन देवीभ्यो नैवेद्यानि दापितानि ॥

जिनमण्डन का वर्णन कुमारपालचरित्र के पृ० १५५ आदि में है।

९७. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २३३ और पृ० २३४–३५ । कुमारपालचरित्र, पृ० १९० और १९१ में ये दोनों ही कथानक विपरीत क्रम से दिये गए हैं।

९८. प्रभावकचरित्र, २२, ७०३ आदि; प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २३७; कुमारपालचरित्र पृ० २४६ आदि।

९९. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २४०; प्रबन्धकोश, पृ० ११९ आदि; कुमारपालचरित्र, पृ० २६८ आदि।

१००. कुमारपालचरित्र, पृ० २६७।

१०१. प्रभावकचरित्र, २२, ७३१ आदि; प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० १३३ आदि; कुमारपालचरित्र, पृ० १८८ आदि।

१०२. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २४३ आदि; प्रबन्धकोश, पृ० १०० आदि; कुमारपालचरित्र, पृ० १४६ आदि और २७२ आदि।

१०३. कुमारपालचरित्र, पृ० २१३ आदि में पहला कथानक पाया जाता है। दूसरा जो ग्रन्थ के अन्त में पृ० २६७ आदि में दिया हुआ है, उस ब्राह्मण कथानक से मिलता जुलता है जो के. फार्बस ने रासमाला के पृ० १५५ आदि में शंकराचार्य और हेमाचार्य के सम्बन्ध में दी है। ऐसा लगता है कि जैन कथानक को ब्राह्मण रूप दे कर पीछे का कथानक गढ़ दिया गया है।

१०४. प्रभावकचरित्र २२, ७१० आदि; कुमारपालचरित्र, पृ० २३६ आदि। साधारण तालवृक्ष, अर्थात् खजूर [फिनिक्स सिल्विस्ट्रिस] जो कि पश्चिम भारत में बहुलता से पाया जाता है, ही यहां अभिप्रेत है। श्रीताल से बोरेसस

फ्लेबेलीफार्मिस (Borassus Flabelliformis) कि जो गुजरात में क्वचित् ही पाया जाता है, अभिप्रेत है।

१०५. प्रभावकचरित्र २२, ७६९ आदि। शेष प्रबन्ध भी यही समर्थन करते हैं कि राजा कुमारपाल ने हेमचन्द्र को राज्य अर्पण कर दिया था। ऐसा करने का कारण निःसंदेह भिन्न भिन्न दिया है।

१०६. कुमारपालचरित्र, पृ० १४६।

१०७ कुमारपालचरित्र, पृ० २११-२२३। ग्रन्थान्त में पृ० २७९ में विरुदों की एक और सूची दी गयी है जो बहुत बातों में पृथक् है।

१०८. प्रभावकचरित्र २२, ८५० आदि; प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २३७ आदि; प्रबन्धकोश, पृ० १०२ आदि और ११२, कुमारपालचरित्र, पृ० २४३ और पृ० २७९।

१०९. प्रभावकचरित्र, २२, ८५२-५३; प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २४४ आदि; कुमारपालचरित्र, पृ० २८६ आदि। जिनमण्डन के कुमारपाल की मृत्यु सम्बन्धी विवरण में कुछ ऐतिहासिक तथ्य होना संभव है, वह यहां पूरा ही दे दिया जाता है। पृ० २८४ आदि में वह इस प्रकार दिया है :—

ततः श्रीगुरुविरहातुरो राजा यावद् दौहित्रं प्रतापमल्लं राज्ये निवेशयति तावत् किंचिद्विकृतराजवर्गभेदोऽजयपालो भ्रातृव्यः श्रीकुमारपालदेवस्य विषमदात्। तेन विधुरितगात्रो राजा ज्ञाततत्प्रपञ्चः स्वां विषापहारशुक्तिकां कोशस्थां शीघ्रमानयतेति निजाप्तपुरुषानादिदेश। ते च तां पुराऽप्यजयपालगृहीतां ज्ञात्वा तूष्णीं स्थिताः। अत्रान्तरे व्याकुले समस्तराजलोके विषा [प] हारे [र] शुक्तेरनाग [म] ह [है] तुं ज्ञात्वा कोऽपि पपाठ।''''''इत्याकर्ण्य यात [व]द् राज् [जा] विमृशति तावत् कोऽपि आसन्नदयः। कृतकृत्योऽसि भूपाल कलिकालेऽपि भूतले। आमन्त्रयति तेन त्वां शा''''''''''विधिः। द्वयोर्लक्षं लक्षं दत्त्वा शिप्रानागमहेतुं ज्ञात्वा।

अर्थिभ्यः कनकस्य दीपकपिशा विश्राणिताः कोटयो
वादेषु प्रतिवादिनां प्रतिहताः शास्त्रार्थगर्भा गिरः।
उत्थान [उत्खात] प्रतिरोपितैर्नृपतिभिः सारैरिव क्रीडितं
कर्तव्यं कृतमर्थना यदि विधेस्तत्रापि सज्जा वयम्॥

इत्युदीर्य दशधाराधनां कृत्वा गृहीतानशनो वर्ष ३० मास ८ दिवसान् २७ राज्यं कृत्वा कृतार्थी कृतपुरुषार्थः

सर्वज्ञं हृदि संस्मरन् गुरुमपि श्रीहेमचन्द्रप्रभुं
धर्मं तद्गदितं च कल्मषमषीप्रक्षालनापुष्कलं ।
व्योमाग्न्यर्थम १२३० वत्सरे विस[ष]लहर्युत्सर्पिमूर्च्छाभरो
मृत्वावाप कुमारपालनृपतिः स व्य [व्य] न्तराधीशताम् ॥

जो पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं, वे एकदम भ्रंशित प्राकृत गाथायें हैं ।

—⁂—

परिशिष्ट (अ)

हेमचंद्राचार्य विषय साहित्य-साधनावली

(BIBLIOGRAPHY)

(१) संस्कृत ग्रंथादि

सिद्धहेम शब्दानुशासन प्रशस्ति : कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्रसूरि, वि० सं ११९२ से ११९५ के मध्य

चौलुक्यवंशोत्कीर्तन याने द्वयाश्रय (संस्कृत) काव्य : कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरि, वि० सं० ११९९ के पूर्व

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र (पर्व १०) याने महावीर चरित्र प्रशस्ति : कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरि, वि० सं० १२१६-१२२९ में

शतार्थकाव्य : शतार्थी श्री सोमप्रभसूरि

हेमकुमार चरित्र (कुमारपालपडिबोह का एक अंश) : शतार्थी श्री सोमप्रभसूरि, वि० सं० १२४१

प्रभावक चरित्र* (शृंग २१-२२) : श्री प्रभाचन्द्रसूरि, वि० सं० १३३४ चत्र शुक्ल सप्तमी शुक्रवार

प्रबंध चिंतामणि* : श्री मेरुतुंगसूरि, वि० सं० १३६१ फाल्गुनी पूर्णिमा

विविध तीर्थकल्प* : श्री जिनप्रभसूरि, विक्रमी १४ वीं शताब्दी

प्रबंधकोश याने चतुर्विंशतिप्रबन्ध* : श्री राजशेखरसूरि, वि० सं० १४०५ ज्येष्ठ शुक्ल सप्तमी

पुरातन प्रबंध संग्रहगत हेमचंद्रसूरि संबंधी वृत्त* : अज्ञातनामधेय

कुमारपालचरित : कृष्णर्षीय श्री जयसिंहसूरि, वि० सं० १४२२

कुमारपालचरित्र : श्री सोमतिलकसूरि, वि० सं० १४२४

भक्तामरस्तोत्र की विवृति : श्री गुणाकरसूरि, वि० सं १४२६

उपदेश रत्नाकर : सहस्त्रावधानी श्री मुनिसुंदरसूरि, वि० सं० १४५५ से १४८४

कुमारपाल चरित्र : अज्ञातनामधेय, वि० सं० १४७५

कुमारपाल चरित्र : श्री चारित्रसुन्दरगणि, वि० सं० १४८४ से १५०७

कुमारपाल प्रबन्ध : श्री जिनमंडन गणि, वि० सं० १४९२ (द्वयंक मनु)

उपदेशतरंगिणी : श्री रत्नमन्दिर गणि, विक्रमी सोलहवीं शताब्दी

उपदेश प्रासाद : श्री विजयलक्ष्मीसूरि, वि० सं० १८४३ कार्तिक शुक्ल पंचमी
ऋषि मंडलस्तोत्र की टीका : श्री हर्षनन्दन (१)
काव्यानुशासन (सटीक) की प्रस्तावना : पं० शिवदत्त और काशीनाथ, ई० सन् १९०१
छन्दोनुशासन (सटीक) की प्रस्तावना : श्री आनन्दसागर मुनि (कायमसूरि) ई० स० १९१२
श्री शांतिनाथ महाकाव्य की प्रस्तावना : श्री हरगोविन्द दास और पं० बेचरदास, वि० सं० १९६७
जैसलमेरजैनभांडागारीयग्रन्थानां सूचीपत्रम् : पं० लालचन्द भगवानदास गांधी ई० स० १९२३
'प्रास्ताविकं किंचित्' में हेमचन्द्राचार्यचरित्रम् (प्रमाणमीमांसा की प्रस्तावना) : पं० मोतीलाल लधाजी, वि० सं० १९५२
जैन स्तोत्र संदोह (भा० १) की प्रस्तावना : मुनि श्री चतुरविजयजी (स्व० दक्षिण-विहारी श्री अमरविजय का शिष्य), (वि० सं० १९८२)
श्री सिद्ध हेमशब्दानुशासन और उसकी लघुवृत्ति की प्रस्तावना : स्व० मुनि श्री हिमांशुविजयजी, वि० सं० १९९१
हेमचन्द्रवचनामृत (गुजराती अनुवाद सहित) : मुनि श्री जयंत विजय, वि० सं० १९९३

(२) प्राकृत ग्रन्थ

कुमारपाल चरित्र (प्राकृत द्याश्रय काव्य : कविकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, कुमारपाल का राज्यकाल
कुमारपाल पडिबोह (अधिकांश प्राकृत) : शतार्थिक श्री सोमप्रभसूरि, वि० सं० १२४१
मोहपराजय (नाटक) : मंत्री श्री यशःपाल, अजयपाल का राज्यकाल
कुमारपालचरिय : श्री हरिश्चन्द्र

(३) गुजराती ग्रंथ

कुमारपालरास : श्री देवप्रभगणि, वि० सं० १५४० से पूर्व का समय
कुमारपालरास : श्री हरिकुशल, वि० सं० १६४०
कुमारपालरास : श्रावक ऋषभदास, वि० सं० १६७०
कुमारपालरास : श्री जिनहर्ष, वि० सं० १७४२

संस्कृत द्वयाश्रय का भाषान्तर : प्रो० मणिलाल नभुभाई द्विवेदी, ई० सन् १८९३
चतुर्विंशति प्रबंध का गुजराती भाषान्तर : प्रो० मणिलाल नभुभाई द्विवेदी,
ई० सन् १८९५
प्रबंधचिन्तामणि का भाषान्तर : शास्त्री रामचंद्र दीनानाथ
उपदेश तरंगिणी का भाषान्तर : पं० हीरालाल हंसराज
श्री जिनमंडनगणिकृत कुमारपाल प्रबन्ध का भाषांतर : श्री मगनलाल चुनीलाल वैद्य, ई० स० १९१६ पूर्व
पाटणनी प्रभुता : घनश्याम (श्री कन्हैयालाल मुंशी), ई० स० १९१६
राजाधिराज : श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
गुजरातनो नाथ : श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
रासमाला अथवा गुजरात प्रांतनो इतिहास : दी० ब० रणछोड़भाई उदयराम दुबे,
ई० स० १९२२ दूसरा संस्करण
गुजरात संस्कृत साहित्य : एनु रेखादर्शन (श्री जी गुजराती साहित्य परिषद,
राजकोट) : आचार्य आनन्द शंकर ध्रुव
श्रीमद्राजचन्द्र (पृ० ७१६) :
जैनन्याय नो क्रमिक विकास (सातवीं गुजराती साहित्य परिषद, भावनगर),
पं० सुखलाल, ई० स० १९२४
हेमचन्द्राचार्यनु प्राकृत व्याकरण (आठमी गुजराती साहित्य परिषद्) श्री मोतीचंद
गिरधर कापड़िया, ई० स० १९२६
गुजरात नु प्रधान व्याकरण (आठमी गुजराती साहित्य परिषद्) (पुरातत्व पु०४
अंक १-२ में प्रकाशित) पं० बेचरदास
जीवराज दोशी, ई० स० १९२६
उपदेशप्रासाद नुं भाषांतर भाग १ और भाग ४ प्रकाशक जैन धर्म प्रसारक सभा,
भावनगर
श्री प्रभावकचरित्र नुभाषांतरगत प्रबन्धपर्यालोचन पृ० ९५-१०५ : मुनि
श्री कल्याण विजयजी, ता० ११-८-१९३१
जैन साहित्य नुं संक्षिप्त इतिहास (पृ० २८५-३२०) : श्री मोहनलाल दलीचन्द
देसाई, ई० सन् १९३३
गुजरातना ज्योतिर्धरो, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी
चतुर्विंशति प्रबन्ध नुं भाषांतर : हीरालाल रसिकलाल कापड़िया, ई० स० १९३४
श्री हेमचन्द्राचार्य (डा० बूलर की पुस्तक का गुजराती अनुवाद) (मोती हेम) :
श्री मोतीचन्द गि० कापड़िया ई० स० १९३४

गुजराती भाषा अने साहित्य (भाग १) : श्री रमाप्रसाद प्रे० बक्षी, ई० स० १९३६
हेमचन्द्राचार्य (बेचर हेम) : पं० बेचरदासजी दोशी, ई० स० १९३६
श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर नु द्वयाश्रय काव्य : प्रो० केशवलाल हिम्मतलाल कामदार,
ई० स० १९३६
श्री हेमचन्द्राचार्यनी दीक्षानां समय अने स्थान : स्व० मुनि श्री हिमांशु विजयजी
ई० स० १९३७
उत्तर हिन्दुस्तान मां जैनधर्म : भाषान्तरकार श्री फूलचन्द ह० दोशी,
ई० स० १९३७
श्री हैमप्रकाश (भाग १) नो उपोद्घात : उपाध्याय श्री क्षमाविजय,
ई० स० १९३७
हेमचन्द्राचार्य ने लगता लेख : श्री कन्हैयालाल मा० मुन्शी, ई० स० १९३८
हेम सारस्वत पत्रिका : ई० स० १९३८

(४) हिन्दी ग्रन्थादि

कुमारपाल चरित्र की प्रस्तावना (पृ० १३-५२) : मुनि जिन विजयजी,
ई० स० १९१६
श्री हेमचन्द्र संबंधी लेख : पं० शिवदत्त शर्मा
(नागरी प्रचारिणी पत्रिका ६-४)
पातञ्जल योगदर्शन तथा हारिभद्रीयोगविंशिका की प्रस्तावना (पृ० ३२-३३)
पं० सुखलाल, सं० १९७८ (स० १९२२)
आचार्य हेमचन्द्र और उनका साहित्य : स्व० मुनि श्री हिमांशु विजय

(५) मराठी ग्रंथ

महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश

(६) बंगाली ग्रंथ

बंगीय महाकोश

(७) अँग्रेजी ग्रन्थादि

Introduction to some works : H. H. Wilson, 1839 (?) A. D.
Rasmala (pp. 145-157) : A. K Forbes, 1856 A. D.
An article in the 'Journal of the Bombay Branch of the Royal
Asiatic Society, No. 9. p. 222 : Dr. Bhau Daji.

Some Articles from Indian Antiquary : A Report on the search of Mss. : F. Kielhorn, 1881 (?) A. D.

1st, 3rd and 5th Reports of Operations in Search of Sanskrit Mss : Prof. Peterson, 1883, 1887 & 1896. A. D.

English translation of Prabhandha Chintamani : Twany, 1902 A. D.

Catalogus Catalogoram : Dr. Theodor Aufrecht, 1891–1903 A. D.

Introduction to Kavyanushasan (Nirnaya Sagar Press Edition) Shivdatta and Kashinath, 1901 A. D.

Hemchandra (Encyclopaedia of Religion & Ethics).

Gujrati Language and Literature (Wilson Philological Lectures) delivered in 1915–16 : Prof. N. B. Divetia, 1921 & 1922 A. D.

Systems of Sanskrit Grammar : Dr. S. K. Belvalkar, 1915 A. D.

Introduction to Parisistaparvan : Dr. H. Jacobi, 1916 (?) A.D.

Introduction to Mohaparajaya : C. D. Dalal, 1918 A. D.

Introduction to Bhavisayattakaha : Dr. P. D. Gune.

Jainism in Northern India : C. J. Shah, 1932 (?) A. D.

Thakkar Vasanji Madhavaji Lectures : D.B.K.M. Jhaveri, 1934.

History of Indian Literature Vol. II. : Prof. Mauric Winternitz.

Introduction to Desināmamālā : Prof. Murlidhar Bannerjee.

Introduction to Syadvadmanjari along with Anyayogavyavachedadvatrinsika : Prof. A. B. Dhruva, 1933 A. D.

Catalogue of Sanskrit and Prakrit mss. in the Library of the India Office : Prof. A. B. Kieth.

History of Sanskrit Poetics Vol. I. : Dr. S. K. De

Discriptive Catalogue of Sanskrit and Prakrit mss. in the Library of the B. B. R. A. S. Vols. I–IV. : Prof. H. D. Velankar, 1929 (?) A. D.

Kavidarpana (Annals of the Bhandarkar Research Institute) : Prof. H. D. Velankar.

Introduction to Parmatma Prakasa and Yogasar : Prof. A. N. Upadhye, 1937 A. D.
Life of Hemchandra (Singh Series).
Introduction to Desinamamala : Prin. Parvastu Venkat Ramanuja Svami, 11-11-37.
Introduction to Kavyanusasana Vol. II. : Rasiklal C. Parikh, 1938 A. D.
Notes to Kavyanusasana Vol. II. : Prof. A. B. Athavale.
Foreword to Kavyanusasana : Dr. A. B. Dhruva.

(८) फ्रेंच ग्रन्थादि

Essae de Bibiliographie Jaina : A. Guerinot.
La Religion D'jaina.

(६) जर्मन ग्रन्थादि

Notes etc. in the German Edition of the 8th Chapter of Siddhahema : (दोनों भागों में प्रकाशित) Dr. Pischel.
Verzeichniss der Sanskrit und Prakrit handschriften der Kööniglichen Bibiliothek au Berlin Vol. II pt. II. : Dr. A. Weber, 1888 A. D.
Uber das Leben das Jaina Monches Hemachandra : Dr. G. Buhler, 1889 A. D.
Geschichte der Indischen Literatur (Vol. II) : Prof. Mauric Winternitz.
Die Lehre der Jainasnach den alten Quelien dargestellt : Water Schubing.

इसके विषय में विस्तृत जानकारी के लिए प्रो० हीरालाल रसिकलाल कापड़िया की पुस्तिका 'कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जेटलेशुं' देखना चाहिए ।

परिशिष्ट (ब)

आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा किया हेमचन्द्राचार्य-कृतियों का संख्या-निर्माण

सिद्धहेमलघुवृत्ति	६,०००	श्लोक
सिद्धहेमबृहद्वृत्ति	१८,०००	"
सिद्धहेमबृहन्न्यास	८४,०००	"
सिद्धहेमप्राकृतवृत्ति	२,२००	"
लिंगानुशासन	३,६८४	"
उणादिगण विवरण	३,२५०	"
धातु पारायण विवरण	५,६००	"
अभिधान चिंतामणि	१०,०००	"
" (परिशिष्ट)	२०४	"
अनेकार्थकोश	१,८२८	"
निघंटुकोश	३९६	"
देशीनाम माला	३,५००	"
काव्यानुशासन	६,८००	"
छंदोनुशासन	३,०००	"
संस्कृत द्वयाश्रय	२,८२८	"
प्राकृत द्वयाश्रय	१,५००	"
प्रमाण मीमांसा (अपूर्ण)	२,५००	"
वेदांकुश	१,०००	"
त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित्र महाकाव्य १० पर्व	३२,०००	"
परिशिष्ट पर्व	३,५००	"
योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति सहित	१२,७५०	"
वीतराग स्तोत्र	१८८	"
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका (काव्य)	३२	"
अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका (काव्य)	३२	"
महादेवस्तोत्र	४४	"

उनकी प्रतिभा, उनका सूक्ष्मदर्शीपन, उनका सर्वदिग्गामी पांडित्य, और उनके बहुश्रुतत्व का परिचय हमें उपरोक्त सूची से मिल जाता है।

—मुनि श्री पुण्यविजयजीकृत पत्रिका : 'भगवान श्री हेमचंद्राचार्य'

श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने अपने 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' (पृष्ठ ३०० पैरा ४३१) में लिखा है कि "ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने साढे तीन करोड़ श्लोक प्रमाण ग्रंथ रचे हैं।" श्लोक प्रमाण जैसा कि मुनि श्री जिनविजय जी लिखते हैं, यदि ३२ अक्षर का मानें, और यह साढे तीन करोड़ श्लोकों की रचना हेमचंद्राचार्य ने बीस वर्ष से चौरासी वर्ष तक की आयु याने ६४ वर्ष की अवधि में की ऐसा मानें तो इस अवधि के कुल ६४ × ३६५ = २३३६० दिन होते हैं। और इतने दिनों के घंटे लगभग छह लाख होते हैं। अतः छह लाख घंटों में साढे तीन करोड़ श्लोक लिखने के लिए मनुष्य को प्रत्येक मिनिट में एक श्लोक लिखना चाहिए। ऐसा तो चौबीसों घण्टे, रात-दिन का विचार किए बिना, काम किया जाए तब संभव है। यदि काम करने के सामान्य आठ घंटे प्रतिदिन मानें तो प्रत्येक मिनिट में तीन श्लोकों की रचना का औसत आता है। इस प्रकार जो बात अपने आपमें ही अतिशयोक्ति है, उसे यथार्थ कहकर विद्वानों को उल्लेख कर अश्रद्धेय बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इससे मूल व्यक्ति को अधिक न्याय मिल सकता है। मुनि श्री पुण्य विजयजी का उल्लेख इस दृष्टि से अधिक तुलनात्मक और श्रद्धेय है। उन्होंने लिखा है तदनुसार अनेक पुस्तकें अनुपलब्ध होने से, श्लोक प्रमाण संख्या उससे कुछ अधिक अवश्य ही हो सकती है।

हेमचंद्राचार्य के अनेक विद्वान शिष्यों ने इस काम में उनकी सहायता की होगी। यह भी संभव है। परन्तु यह सहायता मूल श्लोक रचने की अपेक्षा व्युत्पत्ति शब्दमूल खोजने, शब्द संग्रह करने आदि प्रकार की ही हो सकती है। क्योंकि ऐसा स्पष्ट उल्लेख उस समय का पीछे उद्धृत किया ही जा चुका है जब कि देवबोध हेमचंद्र को मिलने गया था। अस्तु जो उनकी रचना की संख्या कही जाती है, उतने श्लोक हेमचंद्राचार्य ने रचे हों, यह संभव प्रतीत नहीं होता। इसीलिए मुनि श्री पुण्यविजयजी का इस विषय में उपरोक्त उल्लेख अधिक विवेकपूर्ण और विश्वासपात्र है।

—धूमकेतु : कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य, पाद टिप्पणी पृ० १७४ ७५
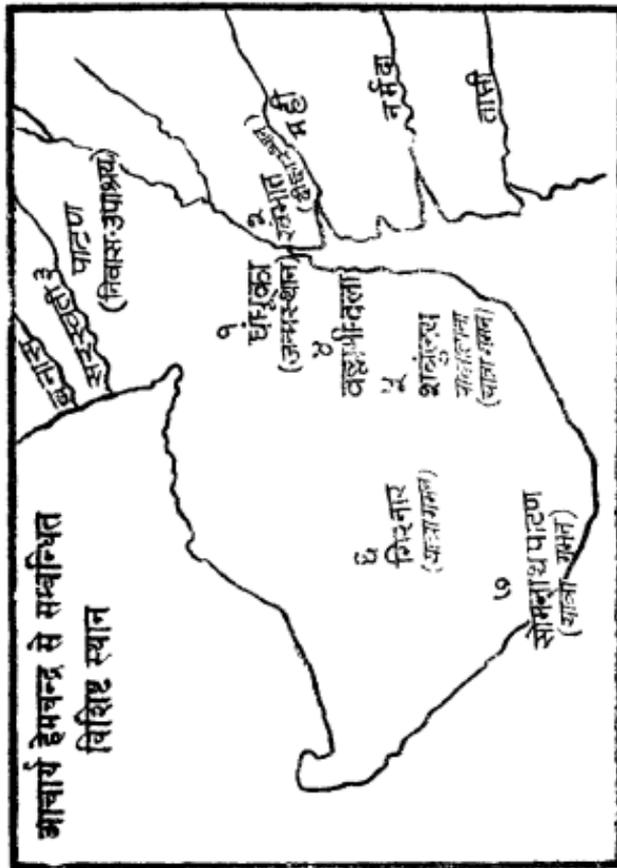
"सूर्योदय के समय सरस्वती नदी के किनारे खड़ी एक महान शक्ति, अपने प्रकाश से—तेजसे—सारे गुजरात को छाई हुई कल्पिए और आपको हेमचन्द्राचार्य दिखलाई देंगे।"

—श्री धूमकेतु : 'कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य' पृ० १९१.

स्थलांक ४. आचार्य हेमचन्द्र शत्रुंजय की यात्रा को गए तब वलभी-वला भी गए थे। वला से आगे चमारड़ी गाँव के पास थापा नाम की एक छोटी पहाड़ी है जहां जैन मंदिर के अवशेष मिलते हैं।

प्रभावक चरित्र कहता है कि इस थापा पहाड़ी के निकट आचार्यश्री हेमचन्द्र ने रातवासा किया था। उसकी स्मृति के लिए रातवासे की भूमि पर राजा कुमार पाल ने जैन विहार बनवाया था। जो अवशेष वहां मिलते हैं, उनका संबंध इस जैन विहार से हो सकता है।

—पं० बेचरदास दोशी की 'हेमचंद्राचार्य' पुस्तक से साभार उद्धृत

शब्द-सूची

~